

Chapter चौदह

आदर्श पारिवारिक जीवन

इस अध्याय में देश, काल तथा कर्ता के अनुसार गृहस्थ के वृत्तिपरक कर्तव्यों का वर्णन हुआ है। जब युधिष्ठिर महाराज ने गृहस्थ के वृत्तिपरक कर्तव्यों के विषय में अत्यन्त जिज्ञासा प्रकट की तो नारद मुनि ने उपदेश दिया कि गृहस्थ का सर्वोपरि कर्तव्य वासुदेव कृष्ण पर पूर्णाश्रित रहना तथा निर्धारित भक्ति के द्वारा सभी प्रकार से उन्हें प्रसन्न करना है। यह भक्ति गुरु के उपदेशों तथा भगवद्भक्ति में लगे भक्तों की संगति पर निर्भर करेगी। भक्ति का शुभारम्भ श्रवणम् अर्थात् सुनने से होता है। मनुष्य को चाहिए कि सिद्धात्माओं के मुखों से सुने। इस तरह गृहस्थ की अपनी पत्नी तथा सन्तानों के प्रति आकर्षण क्रमशः घटेगा।

गृहस्थ को चाहिए कि अपने परिवार के पालन के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अर्जित करे। उसे चाहिए कि केवल धन संग्रह करने तथा भौतिक सुविधाओं में व्यर्थ की वृद्धि करने के लिए अत्यधिक उद्यम न करे। यद्यपि गृहस्थ को अपनी जीविका चलाने के लिए ऊपर से अत्यधिक सक्रिय रहना चाहिए, किन्तु भीतर से उसे भौतिक लाभ से अनासक्त रहकर पूर्णतः स्वरूपसिद्ध व्यक्ति बनना चाहिए। पारिवारिक सदस्यों के साथ बर्ताव या मैत्री मात्र उनके प्रयोजन की सिद्धि के लिए होनी चाहिए, उनमें अत्यधिक लिप्त नहीं रहना चाहिए। गृहस्थ को पारिवारिक सदस्यों तथा समाज के आदेशों को ऊपर-ऊपर ग्रहण करना चाहिए लेकिन सार रूप में उसे गुरु तथा शास्त्र द्वारा बताये गये

वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगना चाहिए। उसे विशेष रूप से धन कमाने के लिए कृषि कार्यों में लगना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है—*कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यम्*—गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य हैं कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार। यदि सौभाग्यवश या भगवत्कृपा से अधिक धन आ जाये तो इसका समुचित उपयोग यह होगा कि उसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लगाया जाये। उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक धन कमाने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। गृहस्थ को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जो आवश्यकता से अधिक धन एकत्र करने के लिए प्रयास करता है, वह चोर माना जाता है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है।

गृहस्थ को निम्न वर्ग के जीवों से यथा पशुओं, पक्षियों तथा मधुमक्खियों से स्नेह करना चाहिए और उनसे अपनी सन्तान के समान व्यवहार करना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए वह पशु या पक्षियों को न मारे। उसे चाहिए कि कुत्तों तथा अधम प्राणियों तक की आवश्यकताओं की पूर्ति करे और अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यो का शोषण न करे। वस्तुतः *श्रीमद्भागवत* के आदेशों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ एक महान् साम्यवादी होता है, जो हर एक को जीविका प्रदान करता है। गृहस्थ को चाहिए कि उसके पास जो कुछ भी हो उसे बिना किसी भेद-भाव के सभी जीवों में वितरित कर दे। सर्वश्रेष्ठ विधि तो प्रसाद वितरण है।

गृहस्थ को चाहिए कि अपनी पत्नी से अत्यधिक लिप्त न रहे, उसे चाहिए कि वह अपनी पत्नी को भी दत्तचित होकर अतिथि की सेवा में लगाए। भगवत्कृपा से गृहस्थ जो भी धन संग्रह करे उसे पाँच प्रकार के कार्यों में व्यय करे—भगवान् की पूजा में, वैष्णव तथा सन्त पुरुषों के स्वागत में, साधारण जनता तथा सभी जीवों में प्रसाद वितरण करने में अपने पितरों को प्रसाद अर्पण करने में तथा स्वयं प्रसाद ग्रहण करने में। गृहस्थ को उपर्युक्त विधि से हर एक की पूजा करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि ऐसी कोई वस्तु तब तक न खाये जब तक वह भगवान् को भेंट न की जा चुकी हो। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है—*यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः*—भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर दिये जाते हैं, क्योंकि वे यज्ञ में भेंट किया गया भोजन पाते हैं। गृहस्थ को पुराणों में बताए गए तीर्थ-स्थानों पर आ जाना चाहिए। इस तरह

अपने परिवार, समाज, देश तथा अन्ततः मानवता के लाभ के लिए उसे भगवान् की पूजा में लगना चाहिए।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा ।

यायाद्देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर महाराज ने कहा; गृहस्थः—अपने परिवार के साथ रहने वाला व्यक्ति; एताम्—इस (पिछले अध्याय में वर्णित विधि); पदवीम्—मुक्ति पद को; विधिना—वैदिक शास्त्र के आदेशानुसार; येन—जिससे; च—भी; अञ्जसा—सरलता से; यायात्—पा सके; देव-ऋषे—हे देवताओं में श्रेष्ठ साधु; ब्रूहि—कृपा करके बताएँ; मादृशः—मेरे समान; गृह-मूढ-धीः—जीवन लक्ष्य से पूर्णतया अनजान।

महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि से पूछा : हे स्वामी, हे महर्षि, कृपा करके यह बतलाएँ कि जीवन-लक्ष्य के ज्ञान से रहित, घर पर रहने वाले हम लोग किस तरह वेदों के आदेशानुसार सरलता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ?

तात्पर्य : पिछले अध्यायों में नारद मुनि बतला चुके हैं कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी को किस-किस तरह कर्म करना चाहिए। सर्वप्रथम उन्होंने ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के आचरणों का वर्णन किया, क्योंकि ये तीनों आश्रम जीवन-उद्देश्य की पूर्ति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमें यह ध्यान देना चाहिए कि इन तीनों आश्रमों में विषयी-जीवन बिताने की तनिक भी गुंजाईश नहीं है जब कि गृहस्थ जीवन में मैथुन की छूट है। इसीलिए नारद मुनि ने सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास का वर्णन किया, क्योंकि वे बता देना चाहते थे कि मैथुन की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो मैथुन का इच्छुक हो उसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए शास्त्रों तथा गुरु की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। युधिष्ठिर महाराज यह सब समझ सके इसीलिए उन्होंने अपने आपको गृह-मूढ-धीः अर्थात् जीवन-लक्ष्य के विषय में पूर्णतया अनजान कहकर प्रस्तुत किया। गृहस्थ जीवन बिताने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से जीवन के लक्ष्य के बारे में अनजान रहता है—उसकी बुद्धि बहुत बढ़ी-चढ़ी नहीं होती। अतएव जितनी जल्दी हो सके, मनुष्य को चाहिए कि घर के तथाकथित सुविधा-सम्पन्न जीवन को छोड़ दे और तपस्या करने की तैयारी करे। तपो दिव्यं पुत्रका। ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिये उनके अनुसार हमें सुविधाजनक स्थिति न उत्पन्न करके तपस्या करनी चाहिए। मनुष्य को इसी तरह से जीवन का चरम लक्ष्य पूरा करने के लिए जीवित रहना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन् यथोचिताः ।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने उत्तर दिया; गृहेषु—घर पर; अवस्थितः—रुककर (गृहस्थ सामान्यतया अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ घर पर रहा करता है); राजन्—हे राजा; क्रियाः—कार्य; कुर्वन्—करते हुए; यथोचिताः—उपयुक्त (गुरु तथा शास्त्र द्वारा आदिष्ट); वासुदेव—भगवान् वासुदेव को; अर्पणम्—अर्पित करना; साक्षात्—प्रत्यक्ष; उपासीत—पूजा करे; महामुनीन्—महान् भक्तों को ।

नारद मुनि ने उत्तर दिया: हे राजन्, जो लोग घर पर गृहस्थ बन कर रहते हैं उन्हें अपनी जीविका अर्जित करने के लिए कार्य करना चाहिए और अपने कर्मों का फल स्वयं भोगने का प्रयास न करके इन फलों को वासुदेव कृष्ण को अर्पित करना चाहिए। इस जीवन में वासुदेव को किस तरह प्रसन्न किया जाये इसे भगवद्भक्तों की संगति के माध्यम से भलीभाँति सीख जा सकता है।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन की रूपरेखा भगवान् को समर्पण करने की होनी चाहिए। *भगवद्गीता* (६.१) में कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

“जो अपने कर्मफलों के प्रति अनासक्त रहता है और जो करणीय है उसे करता है, वह संन्यासी है और वही असली योगी है—वह नहीं जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।” कोई चाहे ब्रह्मचारी के रूप में कार्य करे या गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी के रूप में, उसे भगवान् वासुदेव कृष्ण की तुष्टि के लिए ही कर्म करना चाहिए। यही हर एक के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। नारद मुनि पहले ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए जीवन-उद्देश्यों का वर्णन कर चुके हैं, अतएव अब वे यह बता रहे हैं कि गृहस्थ को किस तरह रहना चाहिए। मूल उद्देश्य तो भगवान् को तुष्ट करना है।

भगवान् को तुष्ट करने की विधि को यहाँ पर वर्णित *साक्षाद् उपासीत महामुनीन्* से सीखा जा सकता है। *महा-मुनीन्* शब्द महान् सन्त पुरुषों या भक्तों को बताता है। सन्त पुरुष सामान्यतया *मुनि* कहलाते हैं जिसका अर्थ है दिव्य कार्यों से प्रयोजन रखनेवाले विचारवान् दार्शनिक। *महामुनि* सूचक है

उन व्यक्तियों का जिन्होंने न केवल जीवन-लक्ष्य का अध्ययन कर लिया है अपितु जो भगवान् वासुदेव को तुष्ट करने में वास्तव में लगे हुए हैं। ये लोग भक्त कहलाते हैं। भक्तों की संगति किये बिना वासुदेवार्पण की विधि नहीं सीखी जा सकती—जिसका अर्थ है वासुदेव या भगवान् कृष्ण को अपना जीवन समर्पित करना।

भारत में इस विधि का कड़ाई से पालन होता था। यहाँ तक कि पचास वर्ष पूर्व मैंने बंगाल के गाँवों तथा कलकत्ता के बाहरी भागों में लोगों को नित्यप्रति अपना सारा काम समाप्त करने के बाद या संध्या के समय सोने के पूर्व श्रीमद्भागवत का श्रवण करते देखा है। प्रत्येक व्यक्ति को भागवत का श्रवण करना चाहिए। प्रत्येक गाँव में भागवत कक्षाएँ चलती थीं जिससे लोगों को श्रीमद्भागवत का श्रवण करने का लाभ प्राप्त था, जो जीवन लक्ष्य के बारे में सब कुछ बताता था। इसका वर्णन अगले श्लोक में किया जाएगा।

शृण्वन्भगवतोऽभीक्षणमवतारकथामृतम् ।
श्रद्धानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३ ॥
सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु ।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—सुनते हुए; भगवतः—भगवान् की; अभीक्षणम्—सदैव; अवतार—अवतारों की; कथा—कथाएँ; अमृतम्—अमृत; श्रद्धानः—भगवान् के विषय में सुनने में अत्यन्त श्रद्धालु; यथा-कालम्—समय के अनुसार (सामान्यतया गृहस्थ को सायंकाल या दोपहर में अवकाश मिलता है); उपशान्त—भौतिक कार्यों से पूर्णतया छुटकारा पाकर; जन—लोगों के द्वारा; आवृतः—घिर कर; सत्-सङ्गात्—ऐसी अच्छी संगति से; शनकैः—धीरे-धीरे; सङ्गम्—संगति; आत्म—शरीर में; जाया—पत्नी में; आत्म-ज-आदिषु—तथा सन्तानों में भी; विमुञ्चेत्—ऐसी संगति से छुटकारा पा ले; मुच्यमानेषु—विलग होकर; स्वयम्—स्वयं; स्वप्न-वत्—सपने की तरह; उत्थितः—जाग्रत।

गृहस्थ व्यक्ति को चाहिए कि वह साधु पुरुषों की संगति बारम्बार करे और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक भगवान् तथा उनके अवतारों के कार्यकलापों के अमृत का उस रूप में श्रवण करे जिस रूप में वे श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णित हैं। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे-धीरे अपनी पत्नी तथा सन्तानों के स्नेह से उसी तरह विरक्त होता रहे जिस प्रकार जाग जाने पर मनुष्य स्वप्न से विरक्त हो जाता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन की स्थापना विश्व-भर के गृहस्थों को श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता का विशेष श्रवण करने का अवसर प्रदान करने के लिए की गई है। यह विधि जिसे कई

प्रकार से वर्णित किया गया है श्रवण तथा कीर्तन करने की है (शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः) जो प्रत्येक व्यक्ति को और विशेष रूप से गृहस्थों को, जो मूढधीः हैं, कृष्ण के विषय में सुनने का विशेष अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। वे लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के विभिन्न केन्द्रों में उन भाषणों को, जिनमें भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत से कृष्ण कथाओं की व्याख्या की जाती है, मात्र सुनकर आजकल बहुप्रचलित अवैध मैथुन, मांसाहार, मादक द्रव्यसेवन तथा जुआ खेलने में व्यस्त रहने की पापपूर्ण मनोवृत्ति से शुद्ध हो सकेंगे। उन्हें इसी प्रकार प्रबुद्ध किया जा सकता है। पुण्यश्रवण कीर्तनः। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—मात्र इस कीर्तन में सम्मिलित होने तथा भगवद्गीता से कृष्ण के विषय में श्रवण करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और विशेष रूप से तब जब वह प्रसाद भी ग्रहण करे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यही सब हो रहा है।

यहाँ पर एक अन्य विशेष वर्णन हुआ है—शृण्वन्भगवतोऽभीक्षणम् अवतार-कथामृतम्। ऐसा नहीं है कि यदि किसी ने एक बार भगवद्गीता पूरी कर ली तो उसे फिर नहीं सुनना चाहिए। यहाँ पर अभीक्षणम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें बारम्बार सुनना चाहिए। बन्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता—यदि किसी ने इन कथाओं को अनेक बार पढ़ा हो तो भी उसे बारम्बार पढ़ना चाहिए, क्योंकि भगवत्कथा अर्थात् कृष्ण की वाणी और कृष्ण के द्वारा कहे वचन अमृतम् है। जो जितना ही अधिक अमृतम् पीता है, वह उतना ही नित्य जीवन में प्रगति करता है।

यह मनुष्य-जीवन मोक्ष के लिए है, लेकिन दुर्भाग्यवश कलियुग के प्रभाव से गृहस्थ लोग प्रतिदिन गधों के समान कठिन श्रम करते हैं। वे प्रातःकाल उठते और जीविकोपार्जन के लिए सौ मील तक की यात्रा करते हैं। विशेष रूप से पाश्चात्य देशों में मैंने देखा है कि लोग जीविकोपार्जन के लिए कार्यालयों तथा फैक्ट्रियों में जाने के लिए प्रातः पाँच बजे जाग जाते हैं। कलकत्ता तथा बम्बई में भी लोग ऐसा ही करते हैं। वे अपने-अपने कार्यालय या फैक्टरी में कठिन श्रम करते हैं और घर लौटते समय तीन-चार घण्टे यातायात में बिताते हैं। तब वे दस बजे सो जाते हैं और पुनः अपने-अपने कार्यालयों तथा फैक्ट्रियों में जाने के लिए प्रातःकाल जाग जाते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के कठिन श्रम को शूकरो तथा मलभक्षियों का जीवन कहा गया है। नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामान् अर्हते

विड्भुजां—ये उन समस्त जीवों में से जिन्होंने इस जगत में भौतिक देह धारण करना स्वीकार किया है और जिसे यह मनुष्य का शरीर मिला है उसे केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए अहर्निश कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियतृप्ति तो कूकरों तथा मलभक्षी शूकरों को भी सुलभ है (*भागवत* ५.५.१) । मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* सुनने के लिए कुछ समय निकाले। यही वैदिक संस्कृति है। मनुष्य को जीविकोपार्जन के लिए अधिक से अधिक आठ घण्टे कार्य करना चाहिए और दोपहर के बाद या संध्या समय गृहस्थ को भक्तों की संगति में कृष्ण के अवतारों एवं उनके कार्यकलापों के विषय में सुनना चाहिए और इस तरह धीरे-धीरे माया के बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिए। किन्तु गृहस्थ कृष्ण-कथा सुनने के लिए समय न निकाल कर अपने-अपने कार्यालयों तथा फैक्ट्रियों में कठिन श्रम करने के बाद होटलों या क्लबों में जाने के लिए समय निकालते हैं जहाँ वे कृष्ण-कथा न सुनकर असुरों तथा अभक्तों की राजनीतिक गतिविधियों को सुनकर प्रसन्न होते हैं और मैथुन, शराब, स्त्री तथा मांस का भोग करके समय का अपव्यय करते हैं। यह गृहस्थ जीवन न होकर आसुरी जीवन होता है। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में फैले हुए अपने केन्द्रों में ऐसे पतित तथा निन्दनीय व्यक्तियों को कृष्ण के विषय में श्रवण करने का अवसर प्रदान करता है।

स्वप्न में हम मैत्री तथा प्रेम का समाज बना लेते हैं, किन्तु जब हम जागते हैं, तो देखते हैं कि सब छूमन्तर हो गया। इसी प्रकार मनुष्य का समाज, परिवार तथा प्रेम भी स्वप्न हैं और मनुष्य के मरते ही यह स्वप्न समाप्त हो जाता है। इसीलिए मनुष्य चाहे सूक्ष्म रूप में या स्थूल रूप में स्वप्न देखे, ऐसे सारे स्वप्न मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। मनुष्य का असली कार्य तो यह समझना है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*) । अतः उसके कार्यकलाप भिन्न होने चाहिए तभी वह सुखी हो सकता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“जो दिव्य पद पर स्थित है, उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी पछताता है न किसी चीज की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर समान दृष्टि रखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।” (*भगवद्गीता* १८.५४) भक्ति में लगा हुआ व्यक्ति सरलता से भौतिकतावादी जीवन के स्वप्न से मुक्त हो जाता है।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।

विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यावत्-अर्थम्—जीविका के लिए जितने प्रयास की आवश्यकता हो उतना ही; उपासीनः—कमाते हुए; देहे—शरीर में; गेहे—घरेलू मामलों में; च—भी; पण्डितः—विद्वान्; विरक्तः—अनासक्त; रक्त-वत्—अत्यधिक आसक्त की भाँति; तत्र—उसमें; नृ-लोके—मानव समाज में; नरताम्—मानव जीवन में; न्यसेत्—चित्रित करे।

वास्तविक विद्वान् को चाहिए कि वह शरीर पालन के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अर्जित करने के लिए कार्य करे और पारिवारिक मामलों से अनासक्त होकर मानव समाज में रहे, यद्यपि बाहर से वह उसमें अत्यधिक आसक्त प्रतीत हो।

तात्पर्य : यह आदर्श पारिवारिक जीवन का चित्र है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्द राय से जीवन-लक्ष्य के विषय में पूछा तो उन्होंने शास्त्रों की संस्तुति के अनुसार उसका विभिन्न विधियों से वर्णन किया और अन्त में बताया कि मनुष्य अपने पद पर बना रहकर, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, या संन्यासी इत्यादि हो, जीवन के उद्देश्य के विषय में जिज्ञासा करे (*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*)। मनुष्य-जीवन का यही सही उपयोग है। जब अनावश्यक मनुष्य इस मानव स्वरूप का दुरुपयोग पशुओं जैसी वृत्तियों में—खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने में—करता है और उस माया के चंगुल से छूटने का प्रयत्न नहीं करता जो जन्म, मरण, जरा तथा व्याधि के चक्र में डालती रहती है, तो उसे निम्न-योनियों में ढकेल कर दण्ड दिया जाता है जहाँ से प्रकृति के नियमों के अनुसार उसे विकास करना पड़ता है। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* प्रकृति की पकड़ में पूरी तरह रह कर जीव को पुनः निम्न-योनि से उच्चतर योनियों में तब तक विकास करना होता है जब तक वह मनुष्य-जीवन में नहीं लौट आता और भौतिक चंगुल से छूटने का अवसर प्राप्त नहीं करता। किन्तु बुद्धिमान मनुष्य शास्त्रों से तथा गुरु से सीखता है कि हम सभी जीव शाश्वत हैं, किन्तु प्रकृति के नियमों के अधीन विभिन्न गुणों की संगति करने से कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त होते रहते हैं। अतएव वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे मनुष्य-जीवन में व्यर्थ की आवश्यकताओं के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु उसे अत्यन्त सादा जीवन बिताना चाहिए जिससे शरीर का पालन हो सके। मनुष्य को निश्चय ही जीविका का कोई साधन चाहिए और उसके वर्ण तथा आश्रम के अनुसार शास्त्रों में जीविका के साधनों की संस्तुति की हुई है। अतएव भगवान् का निष्ठावान् भक्त अधिक धन की लालसा न करके अपनी

जीविका चलाने के लिए कोई न कोई साधन खोज लेता है और जब वह ऐसा करता है, तो कृष्ण उसकी सहायता करते हैं। अतएव उसके लिए जीविकोपार्जन कोई समस्या नहीं बनती। असली समस्या तो जन्म, मृत्यु तथा जरा के बन्धन से मुक्त होने की है। इस स्वतंत्रता को प्राप्त करना तथा व्यर्थ की आवश्यकताओं का अनुसन्धान न करना ही वैदिक सभ्यता का मूल सिद्धान्त है। मनुष्य को अपने आप जो भी जीविका के साधन प्राप्त हो जाँय उनसे संतुष्ट रहना चाहिए। आधुनिक भौतिकतावादी सभ्यता आदर्श सभ्यता से सर्वथा विपरीत है। मानव समाज के तथाकथित नेता प्रतिदिन किसी न किसी ऐसी वस्तु का आविष्कार करते रहते हैं जिससे जीवन-शैली जटिल बनती जाती है और लोग जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चक्र में अधिकाधिक फँसते जाते हैं।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे ।

यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातयः—सम्बन्धी, पारिवारिक सदस्य; पितरौ—माता तथा पिता; पुत्राः—सन्तानें; भ्रातरः—भाई; सुहृदः—मित्र; अपरे—तथा अन्य लोग; यत्—जो भी; वदन्ति—सुझाते हैं (जीविका के साधन के लिए); यत्—जो भी; इच्छन्ति—चाहते हैं; च—तथा; अनुमोदेत—उसे मानना चाहिए; निर्ममः—गम्भीरता से न ग्रहण करते हुए।

मानव समाज में बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि अपने कार्यकलापों की योजना को अत्यन्त सहज बनाए। यदि उसका मित्र, पुत्र, माता-पिता, भाई या अन्य कोई कुछ सुझाव देता है, तो उसे ऊपर से मानते हुए यह कहना चाहिए “हाँ, यह ठीक है” किन्तु भीतर से उसे दृढसंकल्प होना चाहिए कि कहीं वह अपने जीवन को दूभर न बना ले जिससे जीवन का प्रयोजन पूरा न हो सके।

दिव्यं भौमं चान्तरीक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।

तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत्कुर्यात्स्वतो बुधः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दिव्यम्—आकाश से वर्षा होने के कारण सरलता से प्राप्य; भौमम्—खानों तथा समुद्र से प्राप्त; च—तथा; आन्तरीक्षम्—भाग्य से प्राप्त; वित्तम्—सारी सम्पत्ति; अच्युत-निर्मितम्—भगवान् द्वारा बनायी गयी; तत्—वस्तुएँ; सर्वम्—सारी; उपयुञ्जान—(मानव समाज या सारे जीवों के लिए) उपयोग में लाते हुए; एतत्—यह (शरीर पालन); कुर्यात्—करे; स्वतः—अतिरिक्त श्रम किये बिना, स्वतः प्राप्त; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति।

भगवान् द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग जीवों के शरीरों तथा आत्माओं का पालन करने के लिए किया जाना चाहिए। जीवन की आवश्यकताएँ तीन प्रकार की हैं—वे जो

आकाश से (वर्षा से) उत्पन्न हैं, वे जो पृथ्वी से (खानों, समुद्रों या खेतों से) उत्पन्न हैं तथा वे जो वायुमण्डल से (जो अचानक तथा अनपेक्षित रूप से) उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : विविध प्रकार के जीव भगवान् के बच्चों के समान हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् द्वारा पुष्टि की गई है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

“हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लो कि सारी जीवयोनियाँ इस प्रकृति में जन्म द्वारा सम्भव बनाई जाती हैं और मैं उनका वीर्यदाता पिता हूँ।” भगवान् कृष्ण समस्त योनियों तथा रूप वाले जीवों के पिता हैं। जो बुद्धिमान है, वह यह देख सकता है कि चौरासी लाख योनियों में सारे जीव भगवान् के अंश हैं और उनके पुत्र हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् के भीतर प्रत्येक वस्तु भगवान् की सम्पत्ति है (*ईशावास्यमिदं सर्वम्*) अतएव हर वस्तु उनसे सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्यु कथ्यते ॥

“जो व्यक्ति किसी वस्तु को कृष्ण से उसके सम्बन्ध को जाने बिना त्यागता है उसका वैराग्य अपूर्ण कहा जाता है।” (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५६) यद्यपि मायावादी विचारक यह कहते हैं कि यह सृष्टि मिथ्या है, किन्तु वास्तव में यह ऐसी है नहीं। यह तथ्य है, किन्तु यह विचार मिथ्या है कि प्रत्येक वस्तु मानव समाज की है। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, क्योंकि वह उनके द्वारा उत्पन्न की गई है। सारे जीव भगवान् के पुत्र, उनके शाश्वत अंश रूप में होने के कारण अपने पिता की सम्पत्ति का उपयोग प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार करने के अधिकारी हैं। जैसाकि *उपनिषदों* में कहा गया है—
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् द्वारा उसके लिए निर्धारित की गई वस्तुओं से संतुष्ट रहना चाहिए। किसी दूसरे के अधिकारों में या सम्पत्ति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* (३.१४) में कहा गया है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवः ।

यज्ञाद् भवन्ति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

“सारे जीव अन्न पर निर्भर हैं और यह अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ नियत कर्तव्यों से उत्पन्न होता है।” जब काफी अन्न उत्पन्न होता है, तो पशु तथा मनुष्य दोनों का ही उदर-पोषण बिना किसी कठिनाई के हो जाता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के अधीन कर्म कर रहा है। केवल मूर्ख ही यह सोचते हैं कि वे ईश्वर द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं में सुधार ला सकते हैं। गृहस्थों का यह विशेष दायित्व है कि वे यह देखें कि मनुष्यों, जातियों, समाजों या राष्ट्रों के मध्य किसी प्रकार के संघर्ष के बिना भगवान् के नियमों का पालन हो। मानव समाज को ईश्वर के उपहारों का, विशेष रूप से उस अन्न का, सदुपयोग करना चाहिए जो आकाश से होने वाली वर्षा के कारण उत्पन्न होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *यज्ञाद् भवति पर्जन्यः।* यह वर्षा नियमित रूप से हो इसके लिए मनुष्यों को यज्ञ करने चाहिए। पूर्व काल में घी तथा अन्न की आहुति डाल कर यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु इस युग में ऐसा करना असम्भव है, क्योंकि मानव समाज के पापकर्मों के कारण घी तथा अन्न का उत्पादन घट गया है। किन्तु लोगों को चाहिए कि कृष्णभावनामृत को ग्रहण करे और हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे जैसाकि शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्राथैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)। यदि विश्व भर के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन को ग्रहण कर लें और भगवान् के दिव्य नाम तथा कीर्ति का कीर्तन करें तो वर्षा का अभाव न रहे; फलस्वरूप अन्न, फल तथा फूल ठीक से उत्पन्न हों और जीवन की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। गृहस्थों को ऐसे प्राकृतिक उत्पादन की व्यवस्था का भार उठाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है— *तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः।* बुद्धिमान मनुष्य को भगवन्नाम के कीर्तन द्वारा कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहिए और तब जीवन की सारी आवश्यकताएँ स्वतः प्राप्त हो जाएँगी।

यावद्भिभ्येत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जितना; भ्रियेत—भरा जा सकता है; जठरम्—पेट; तावत्—उतना; स्वत्वम्—स्वामित्व; हि—निश्चय ही; देहिनाम्—जीवों का; अधिकम्—इससे अधिक; यः—जो; अभिमन्येत—स्वीकार कर सकता है; सः—वह; स्तेनः—चोर; दण्डम्—दण्ड के; अर्हति—योग्य है।

शरीर के पालन के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतने के स्वामित्व का ही अधिकार रखना चाहिए, किन्तु जो इससे अधिक का स्वामी बनने की कामना करता है उसे चोर मानना चाहिए और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है।

तात्पर्य : ईश्वर की कृपा से हमें कभी कभी काफी मात्रा में अन्न मिल जाता है, अथवा सहसा कहीं से अन्न-दान प्राप्त हो जाता है या व्यापार में अप्रत्याशित लाभ हो जाता है। इस प्रकार हमें आवश्यकता से अधिक धन मिल सकता है। तो फिर उसको किस प्रकार खर्च किया जाये? बैंक में बचत बढ़ाने के लिए धन का संग्रह करने की आवश्यकता चाहिए। *भगवद्गीता* (१६.१३) में ऐसी प्रकृति को आसुरी कहा गया है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

आसुरी लोग सोचते हैं “आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं के अनुसार मैं और अधिक धन प्राप्त कर लूँगा। इस समय मेरे पास इतना है और भविष्य में यह इससे भी अधिक हो जाएगा।” असुर को तो इसी की चिन्ता रहती है कि आज बैंक में मेरा कितना धन है और कल यह कैसे बढ़ पाएगा, किन्तु शास्त्रों द्वारा या वर्तमान युग में सरकार द्वारा धन के अनियंत्रित संग्रह की अनुमति नहीं दी जाती है। वास्तव में जिसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक धन हो उसे इस धन को कृष्ण पर खर्च करना चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार इस अतिरिक्त धन को कृष्णभावनामृत आन्दोलन को दे दिया जाना चाहिए, जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२७) में आदेश दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी भेंट करो तथा दान में दो और जितनी भी तपस्याएँ करो, उन सबों को मेरी भेंट के रूप में करो।” गृहस्थों को अपना अतिरिक्त धन कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए ही खर्च करना चाहिए।

गृहस्थों को चाहिए कि वे विश्व भर में भगवान् के मन्दिरों के निर्माण तथा *भगवद्गीता* या कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए दान दें। *शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णम् अवतारकथामृतम्।* शास्त्रों में—पुराणों तथा अन्य वैदिक साहित्य में—भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने वाली अनेक कथाएँ हैं जिन्हें हर एक को पुनः पुनः सुनना चाहिए। उदाहरणार्थ, मान लो कि हम प्रतिदिन पूरी *भगवद्गीता* के अठारहः अध्यायों का पाठ करते हैं, तो हमें प्रत्येक बार नयी व्याख्या मिलेगी। दिव्य साहित्य का यही गुण है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी अतिरिक्त आय को कृष्णभावनामृत के प्रसार द्वारा सारे मानव समाज के लाभ हेतु व्यय करे। विशेष रूप से भारत में ऐसे सैकड़ों हजारों मन्दिर हैं जिन्हें समाज के उन धनी लोगों ने बनवाया है, जो न तो चोर कहलाना चाहते थे और न ही दण्डित होना चाहते थे।

यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि बताया गया है, जो आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह करता है, वह चोर है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होगा। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन जोड़ लेता है, वह अधिकाधिक भौतिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है। भौतिकतावादी व्यक्ति अनेक कृत्रिम आवश्यकताएँ उत्पन्न करते हैं और उनके प्रलोभन में आकर और अधिक धन संग्रह करने का यत्न करते हैं। आधुनिक आर्थिक विकास की यही विचारधारा है। प्रत्येक व्यक्ति धन कमाने में लगा हुआ है और यह धन बैंक में रखा जाता है। तब बैंक द्वारा यह धन जनता को दिया जाता है। इस प्रकार के चक्र में प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक धन पाने में लगा हुआ है, जिससे मानव जीवन का आदर्श लक्ष्य खोया जा रहा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति चोर है अतएव वह दण्डनीय है। जन्म-मृत्यु के चक्र में प्रकृति के नियमों द्वारा दण्ड मिलता है। कोई भी व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह सन्तुष्ट होकर नहीं मरता, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। अतएव मृत्यु के समय मनुष्य अत्यधिक दुखी रहता है, क्योंकि वह अपनी इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाता। तब प्रकृति के नियम के अनुसार उसे दूसरा शरीर मिलता है, जिससे वह अपनी अपूर्ण इच्छाएँ पूरी कर सके। वह दूसरा जन्म लेकर दूसरा शरीर धारण करके स्वेच्छा से जीवन के ताप-त्रय स्वीकार करता है।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृष्ट्रगमक्षिकाः ।

आत्मनः पुत्रवत्पश्येतैरैषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मृग—हिरन; उष्ट्र—ऊँट; खर—गदहा; मर्क—बन्दर; आखु—चूहा; सरीसृप्—साँप; खग—पक्षी; मक्षिकाः—मक्खियाँ; आत्मनः—अपने; पुत्र-वत्—पुत्र के समान; पश्येत्—देखे; तैः—उन पुत्रों से; एषाम्—इन पशुओं का; अन्तरम्—अन्तर; कियत्—कितना कम।

मनुष्य को चाहिए कि हिरन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, साँप, पक्षी तथा मक्खी जैसे पशुओं के साथ अपने पुत्र के ही समान बर्ताव करे। इन निर्दोष पशुओं तथा पुत्रों के बीच वास्तव में अन्तर ही कितना है?

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को पशुओं तथा अपने घर के अबोध बालकों में कोई अन्तर नहीं दिखता। यहाँ तक कि हमारे सामान्य जीवन में भी पालतू कुत्ते या बिल्ली को बिना किसी ईर्ष्या के बच्चों की तरह माना जाता है। बच्चों की ही तरह बुद्धिहीन पशु भी परमेश्वर के पुत्र हैं अतएव कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, बच्चों तथा बेचारे पशुओं में भेद-भाव नहीं बरतना चाहिए। दुर्भाग्यवश आधुनिक समाज ने विभिन्न योनि के पशुओं को मारने के लिए अनेक साधन ढूँढ़ निकाले हैं। उदाहरणार्थ, खेतों में ऐसे अनेक चूहे, मक्खियाँ तथा अन्य प्राणी होते हैं, जो उपज को हानि पहुँचाते हैं अतएव कभी-कभी उन्हें जीवनासि दवाओं के द्वारा मार दिया जाता है। लेकिन इस श्लोक में इस प्रकार के वध का निषेध किया गया है। प्रत्येक जीव को भगवान् द्वारा प्रदत्त भोजन से पोषित होना चाहिए। मानव समाज को अपने आपको ईश्वर की सम्पत्ति का एकमात्र भोक्ता नहीं समझ लेना चाहिए; प्रत्युत मनुष्य को यह समझना चाहिए कि अन्य पशुओं को भी ईश्वर की सम्पत्ति में अधिकार है। इस श्लोक में साँप का भी उल्लेख है, जिसका अर्थ यह हुआ कि गृहस्थ को सर्प से भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। यदि प्रत्येक प्राणी भगवान् के उपहारस्वरूप अन्न को खाकर संतुष्ट है, तो एक दूसरे जीव में परस्पर ईर्ष्या किस लिए? आधुनिक काल में लोग समाज में साम्यवादी विचारों के प्रति अधिक उन्मुख रहते हैं लेकिन हम यह नहीं समझ पाते कि श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में जो कुछ बताया गया है, उससे बढ़कर कोई अन्य साम्यवादी विचार हो सकता हो? यहाँ तक कि साम्यवादी देशों में भी बेचारे पशुओं का वध बिना विचारे किया जाता है यद्यपि इन पशुओं को भी जीवित रहने के लिए अपना नियत भोजन ग्रहण करने का अधिकार है।

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकालं यावद्देवोपपादितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

त्रि-वर्गम्—तीन सिद्धान्त, धर्म, अर्थ तथा काम; न—नहीं; अति-कृच्छ्रेण—कठिन प्रयत्न के द्वारा; भजेत—सम्पन्न करे; गृह-मेधी—गृहस्थ जीवन में ही रुचि रखने वाला व्यक्ति; अपि—यद्यपि; यथा-देशम्—स्थान के अनुसार; यथा-कालम्—समय के अनुसार; यावत्—जो भी; दैव—भगवत्कृपा से; उपपादितम्—प्राप्त ।

यदि कोई ब्रह्मचारी, संन्यासी या वानप्रस्थ न होकर मात्र गृहस्थ हो तो भी उसे धर्म, अर्थ या काम के लिए अधिक श्रम नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि गृहस्थ जीवन में भी स्थान तथा काल के अनुसार न्यूनतम प्रयास से जो कुछ भगवत्कृपा से उपलब्ध हो जाये, उसी से अपना जीवन-यापन करते हुए सन्तुष्ट रहना चाहिए। मनुष्य को अपने आपको उग्र कर्म में नहीं लगाना चाहिए।

तात्पर्य : मानव जीवन में चार सिद्धान्तों की पूर्ति होनी चाहिए—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। सर्वप्रथम मनुष्य को विभिन्न विधि-विधानों का पालन करते हुए धार्मिक बनना चाहिए और तब अपने परिवार के पालन हेतु एवं अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कुछ धन कमाना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण संस्कार विवाह है क्योंकि सम्भोग या मैथुन भौतिक शरीर की प्रमुख आवश्यकता है। *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*। मैथुन यद्यपि जीवन की अत्यन्त आवश्यकता नहीं है, लेकिन भौतिक प्रवृत्तियों के कारण पशु और मनुष्य दोनों में ही कुछ न कुछ इन्द्रियतृप्ति की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को वैवाहिक जीवन से तुष्ट रहना चाहिए और अतिरिक्त इन्द्रियतृप्ति या विषयी जीवन में शक्ति व्यय नहीं करनी चाहिए।

जहाँ तक आर्थिक विकास की बात है, यह उत्तरदायित्व वैश्यों तथा गृहस्थों पर छोड़ देना चाहिए। मानव समाज को वर्णों तथा आश्रमों में विभाजित होना चाहिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गृहस्थों के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। ब्राह्मण गृहस्थों को *अध्ययन, अध्यापन, यजन* तथा *याजन* के जीवन से सन्तुष्ट रहना चाहिए। ब्राह्मण को ये कार्य पारिश्रमिक लिए बिना करने चाहिए किन्तु जिस व्यक्ति को वह मनुष्य बनने की शिक्षा दे उससे वह दान ले सकता है। जहाँ तक क्षत्रियों का सम्बन्ध है, वे पृथ्वी के राजा माने जाते हैं और पृथ्वी का वितरण वैश्यों में कृषि कार्यों, गोरक्षा तथा व्यापार के लिए होना चाहिए। शूद्रों को कार्य करना चाहिए।

कभी-कभी उन्हें वस्त्र निर्माताओं, बुनकरों, लुहारों, सुनारों इत्यादि के वृत्तिपरक कार्यों में लगना चाहिए या फिर अन्न उत्पादन करने के कठिन श्रम में लगना चाहिए।

ये वे विभिन्न वृत्तिपरक कर्तव्य हैं जिन्हें जीविकोपार्जन के लिए मनुष्यों को करना चाहिए और इसी तरह मानव समाज को सीधा-सादा होना चाहिए। किन्तु इस समय प्रत्येक व्यक्ति तकनीकी विकास में लगा हुआ है, जिसे *भगवद्गीता* में *उग्र कर्म* अर्थात् अत्यन्त कठिन प्रयास कहा गया है। यही उग्र कर्म मानव मस्तिष्क के अन्दर क्षोभ का कारण है। मनुष्य नाना पापपूर्ण कार्यों में व्यस्त रहते हैं और कसाईघर, मदिरालय तथा सिगरेट फैक्टरियाँ खोल कर तथा इन्द्रिय-भोग के लिए रात्रि क्लब एवं अन्य प्रतिष्ठान खोलकर अपने को पतित बनाते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन को बर्बाद कर देते हैं। निस्सन्देह, इन सारे कार्यों में गृहस्थ फँसते हैं, अतएव यहाँ पर *अपि* शब्द के प्रयोग द्वारा यह सलाह दी गई है कि गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपने आप को उग्र कर्म में नहीं लगाना चाहिए। मनुष्य की जीविका के साधन अत्यन्त सरल होने चाहिए। जो गृहस्थ नहीं है अर्थात् ब्राह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी हैं, उन्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता है। इस का अर्थ यह हुआ कि सारी जनसंख्या के तीन चौथाई लोगों के इन्द्रियतृप्ति छोड़कर मात्र कृष्णभावनामृत की प्रगति में लग जाना चाहिए। केवल एक चौथाई जनसंख्या को गृहस्थ होना चाहिए और उसे भी सीमित इन्द्रियतृप्ति के नियमों के अनुसार रहना चाहिए। गृहस्थों, वानप्रस्थों, ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों को कृष्णभावनाभावित बनने में ही सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। इस प्रकार की सभ्यता *दैववर्णाश्रम* कहलाती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का एक उद्देश्य दैववर्णाश्रम की स्थापना करना है, तथाकथित *वर्णाश्रम* को प्रोत्साहित करना नहीं जो मानव समाज द्वारा वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित प्रयासों के अनुसार नहीं होता।

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान्संविभजेद्यथा ।

अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आ—यहाँ तक कि; श्व—कुत्ता; अघ—पापपूर्ण पशु या जीव; अन्ते अवसायिभ्यः—सबसे नीच चाण्डाल को; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; संविभजेत्—विभाजित करे; यथा—जितना; अपि—भी; एकाम्—एक; आत्मनः—अपनी; दाराम्—स्त्री को; नृणाम्—सामान्य लोगों का; स्वत्व-ग्रहः—स्त्री को अपना ही समझ कर स्वीकार किया जाता है; यतः—जिसके कारण।

कुत्तों, पतित पुरुषों तथा चाण्डाल समेत अछूतों को उनकी समुचित आवश्यकताएँ प्रदान करके उनका पालन करना चाहिए। आवश्यकताएँ गृहस्थों द्वारा पूरी की जानी चाहिए। यहाँ तक कि घर की अपनी उस पत्नी को भी, जिससे मनुष्य घनिष्ठतापूर्वक आसक्त होता है, अतिथियों तथा सामान्य जनों के स्वागत में नियुक्त करना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि आधुनिक समाज में कुत्ते को घरेलू साज-सामान माना जाता है, लेकिन वैदिक गृहस्थ जीवन पद्धति में कुत्ता अस्पृश्य होता था। जैसाकि यहाँ बताया गया है कुत्ते का पालन उचित भोजन देकर किया जा सकता है, लेकिन उसे घर में घुसने नहीं दिया जाता, शयन कक्ष की बात तो कोसों दूर रही। जाति से निकाले व्यक्ति या अछूत चाण्डालों को भी जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में *यथा* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है “जितने का पात्र हो।” जाति से निकाले गये लोगों को आवश्यकता से अधिक धन नहीं दिया जाना चाहिए, अन्यथा वे उसका दुरुपयोग करेंगे। उदाहरणार्थ, इस समय निम्न जाति के लोगों को सामान्यतः काफी मजदूरी दी जाती है, लेकिन ऐसे लोग अपने धन को ज्ञान का अनुशीलन करने तथा जीवन में प्रगति करने में उपयोग न करके शराब पीने तथा इसी प्रकार के पापकर्मों में लगाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—लोगों के कार्य तथा गुणों के अनुसार मानव समाज के चार विभाग होने चाहिए। निम्नतम गुणों वाले व्यक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकते जिसमें उच्चतर बुद्धि की आवश्यकता हो। यद्यपि मनुष्यों के कर्मों तथा गुणों के अनुसार ऐसा विभाजन होना चाहिए, किन्तु फिर भी यहाँ यह सुझाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त होनी चाहिए। आजकल के साभ्यवादी प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएँ दिलाने के पक्ष में हैं, किन्तु वे केवल मनुष्यों के बारे में विचार करते हैं, निम्नतर पशुओं पर नहीं। किन्तु भागवत में दिये गये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इस में संस्तुति की गई है कि प्रत्येक जीव को, चाहे मनुष्य हो या पशु, उनके गुण-दोष पर विचार किये बिना जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान की जानी चाहिए।

अपनी पत्नी को भी जनता की सेवा के लिए दे देने के पीछे यह भावना होती है कि वह अपनी पत्नी के घनिष्ठ सम्बन्ध को अथवा अत्यधिक आसक्ति को धीरे-धीरे त्याग दे, क्योंकि इस के कारण वह अपनी पत्नी को अपनी अर्धाङ्गिनी या अपने से अभिन्न सोचता है। जैसाकि पहले ही सुझाया गया

है स्वामित्व की भावना को, यहाँ तक कि अपने परिवार के स्वामित्व को भी त्याग देना होगा। भौतिक जीवन का स्वप्न ही जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधने के लिए कारणस्वरूप है, अतएव इस स्वप्न को त्याग देना चाहिए। फलतः मानव जीवन में अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति को त्यागना होगा, जैसाकि यहाँ पर सुझाव दिया गया है।

जह्याद्यदर्थे स्वान्प्राणान्हन्याद्वा पितरं गुरुम् ।

तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद्यस्तेन ह्यजितो जितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

जह्यात्—छोड़ दे; यत्-अर्थ—जिसके लिए; स्वान्—अपना; प्राणान्—जीवन को; हन्यात्—मार डाले; वा—अथवा; पितरम्—पिता को; गुरुम्—गुरु या शिक्षक को; तस्याम्—उसमें; स्वत्वम्—अधिकार, स्वामित्व; स्त्रियाम्—पत्नी में; जह्यात्—त्याग दे; यः—जो (भगवान्); तेन—उसके द्वारा; हि—निस्सन्देह; अजितः—जो जीता नहीं जा सकता; जितः—जीता गया।

मनुष्य अपनी पत्नी को इतनी गम्भीरतापूर्वक अपना मानता है कि वह कभी-कभी उसके लिए स्वयं को या अन्यो को यथा अपने माता-पिता या गुरु अथवा शिक्षक को मार डालता है। अतएव यदि कोई ऐसी पत्नी के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर सकता है, तो वह उन भगवान् को जीत लेता है, जो अजेय हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक पति अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त रहता है; अतएव अपनी पत्नी से सम्बन्ध तोड़ पाना अतीव कठिन होता है, किन्तु यदि कोई किसी भी प्रकार से उसे त्याग कर भगवान् की सेवा कर सकता है, तो किसी के द्वारा भी न जीते जा सकने वाले भगवान् उस भक्त के वश में आ जाते हैं। यदि भगवान् भक्त पर प्रसन्न हो जाँय तो फिर कौन सी वस्तु दुर्लभ है? तो फिर मनुष्य को अपनी पत्नी तथा बच्चों से स्नेह तोड़कर भगवान् की शरण क्यों नहीं लेनी चाहिए? इसमें कौन सी भौतिक क्षति है? गृहस्थ जीवन का अर्थ है अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति जब कि संन्यास का अर्थ है अपनी पत्नी से विरक्ति तथा कृष्ण से आसक्ति।

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।

क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कृमि—कीड़े-मकोड़े; विट्—विष्ठा, मल; भस्म—राख; निष्ठ—आसक्ति; अन्तम्—अन्त में; क्व—क्या है; इदम्—यह (शरीर); तुच्छम्—अत्यन्त नगण्य; कलेवरम्—भौतिक शरीर; क्व—क्या है; तदीय-रतिः—उस शरीर के प्रति आकर्षण; भार्या—पत्नी; क्व अयम्—इस शरीर का क्या लाभ; आत्मा—परमात्मा; नभः-छदिः—आकाश के समान सर्वव्यापी।

समुचित विचार-विमर्श करके मनुष्य को अपनी पत्नी के शरीर के प्रति आकर्षण त्याग देना चाहिए, क्योंकि यह शरीर अन्ततोगत्वा छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों, मल या राख में परिणत हो जाएगा। तो भला इस तुच्छ शरीर का क्या महत्त्व है? परम पुरुष कितना महान् है, जो आकाश के समान सर्वव्यापी है?

तात्पर्य : यहाँ पर भी इसी बात पर बल दिया है कि मनुष्य अपनी पत्नी के प्रति या विषयी जीवन के प्रति आसक्ति त्याग दे। यदि मनुष्य बुद्धिमान हुआ तो वह अपनी पत्नी के शरीर को पदार्थ का एक पिंड मान सकता है, जो अन्ततोगत्वा छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों, मल या राख में परिणत हो जाएगा। विभिन्न समाजों में अन्त्येष्टि क्रिया के समय मनुष्य के शरीर से तरह-तरह से बर्ताव किया जाता है। कुछ समाजों में गिद्धों द्वारा शरीर को खा लेने दिया जाता है, जिससे मनुष्य-शरीर गिद्ध की विष्ठा बन जाता है। कभी-कभी शरीर को ऐसे ही फेंक दिया जाता है, तब उसे छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े खा जाते हैं। किसी-किसी समाज में मृत्यु के बाद शरीर को तुरन्त जला दिया जाता है, जिससे वह भस्म हो जाता है। प्रत्येक दशा में यदि बुद्धिमानी के साथ शरीर की संरचना और इस के परे आत्मा के बारे में सोचा जाये तो शरीर का क्या महत्त्व है? अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः—शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है किन्तु आत्मा तो नित्य है। यदि मनुष्य अपने शरीर के प्रति आसक्ति त्यागकर आत्मा के प्रति आसक्ति बढ़ाए तो उसका जीवन सफल हो जाए। यह सोचने-विचारने मात्र का विषय है।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः ।

शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सिद्धैः—भगवान् की दया से प्राप्त वस्तुएँ; यज्ञा-अवशिष्ट-अर्थैः—पञ्च महायज्ञ सम्पन्न करने के बाद या भगवान् को यज्ञ अर्पित करने के बाद प्राप्त वस्तुएँ; कल्पयेत्—विचार करे; वृत्तिम्—जीविका का साधन; आत्मनः—अपने लिए; शेषे—अन्त में; स्वत्वम्—अपनी पत्नी, बच्चों, घर, व्यापार इत्यादि का तथाकथित स्वामित्व; त्यजन्—त्यागते हुए; प्राज्ञः—बुद्धिमान लोग; पदवीम्—पद; महताम्—आध्यात्मिक चेतना में पूर्णतया सन्तुष्ट महापुरुषों का; इयात्—प्राप्त करना चाहिए।

बुद्धिमान व्यक्ति को प्रसाद खाकर या पाँच विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करके तुष्ट रहना चाहिए। ऐसे कार्यों से मनुष्य शरीर तथा शरीर के तथाकथित स्वामित्व के प्रति अपनी अनुरक्ति

को त्याग सकता है। जब वह ऐसा करने में समर्थ होता है, तो वह महात्मा के पद पर दृढ़ स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : प्रकृति ने पहले से हमें भोजन देने की व्यवस्था कर रखी है। भगवान् के आदेश से चौरासी लाख योनियों में प्रत्येक जीव के लिए खाने की वस्तुओं की व्यवस्था है। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* प्रत्येक जीव को कुछ न कुछ खाना पड़ता है और वास्तव में, भगवान् ने पहले से उसके जीवन की आवश्यकता के लिए व्यवस्था कर रखी है। भगवान् ने हाथी और चींटी दोनों ही के लिए भोजन बनाया है। सारे जीव भगवान् के भरोसे जीवित हैं, अतएव बुद्धिमान मनुष्य को भौतिक सुविधाओं के लिए कठिन श्रम नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे कृष्णभावनामृत में अग्रेसर होने के लिए अपनी शक्ति बचानी चाहिए। आकाश, वायु, स्थल तथा समुद्र में उत्पन्न की गई सारी वस्तुएँ भगवान् की हैं और हर जीव को भोजन दिया जाता है। अतएव मनुष्य को आर्थिक विकास के विषय में अधिक उत्सुक नहीं रहना चाहिए और न ही जन्म-मृत्यु के चक्र में गिरने के खतरे के लिए व्यर्थ ही समय तथा शक्ति का अपव्यय करना चाहिए।

देवानृषीन् भूतानि पितृनात्मानमन्वहम् ।

स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; नृ—मानव समाज को; भूतानि—जीवों को; पितृन्—पुरखों को; आत्मानम्—अपने को या परमात्मा को; अन्वहम्—नित्यप्रति; स्व-वृत्त्या—अपनी जीविका के साधन से; आगत-वित्तेन—स्वतः आने वाले धन से; यजेत—पूजा करे; पुरुषम्—प्रत्येक के हृदय स्थित व्यक्ति को; पृथक्—अलग से।

मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन वह उन परम पुरुष की पूजा करे जो हर एक के हृदय में स्थित हैं और इसी आधार पर उसे देवताओं, साधु पुरुषों, सामान्य मनुष्यों तथा जीवों, अपने पुरखों तथा स्वयं की अलग-अलग पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित परम पुरुष की पूजा कर सकता है।

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः ।

वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यहि—जब; आत्मनः—अपना; अधिकार-आद्याः—पूर्ण अधिकार के अन्तर्गत उसके पास की वस्तुएँ; सर्वाः—सारी; स्युः—हो जाता है; यज्ञ-सम्पदः—यज्ञ सम्पन्न करने की सामग्री या भगवान् को प्रसन्न करने के साधन; वैतानिकेन—यज्ञ करने को बताने वाली प्रामाणिक पुस्तकों से; विधिना—विधानों के अनुसार; अग्नि-होत्र-आदिना—अग्नि में यज्ञ करने से.; यजेत्—भगवान् की पूजा करे।

जब कोई व्यक्ति सम्पत्ति तथा ज्ञान से समृद्ध हो, जो उसके पूर्ण नियंत्रण में हों और जिनसे वह यज्ञ सम्पन्न कर सके या भगवान् को प्रसन्न कर सके तो उसे शास्त्रों के निर्देशानुसार अग्नि में आहुतियाँ डालकर यज्ञ करना चाहिए। इस तरह उसे भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : यदि गृहस्थ वैदिक ज्ञान में पटु हो और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पूजा करने हेतु काफी धनवान हो गया हो तो उसे चाहिए कि वह प्रामाणिक शास्त्रों के आदेशानुसार यज्ञ सम्पन्न करे। भगवद्गीता (३.९) में स्पष्ट कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—प्रत्येक व्यक्ति को अपना वृत्तिपरक कर्म करना चाहिए, किन्तु इन कर्मों के फल को यज्ञ को अर्पित कर देना चाहिए जिससे भगवान् प्रसन्न हों। यदि कोई इतना भाग्यवान् हो कि दिव्य ज्ञान के साथ-साथ उसके पास धन भी हो जिससे यज्ञ सम्पन्न किया जा सके तो उसे शास्त्रों के आदेशों के अनुसार यज्ञ करने चाहिए। श्रीमद्भागवत (१२.३.५२) में में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात् ॥

सारी वैदिक सभ्यता का लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। सत्ययुग में ऐसा अपने हृदय में भगवान् का तथा त्रेता युग में बहुमूल्य यज्ञ संपन्न करके ध्यान करके किया जाता था। वही लक्ष्य द्वापर युग में मन्दिर में भगवान् की पूजा करके प्राप्त किया जा सकता था और इस कलियुग में *सङ्कीर्तन यज्ञ* द्वारा उसी लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। अतएव जिसके पास विद्या तथा सम्पत्ति दोनों हों उसे चाहिए कि इनका उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए और धनी लोगों का धन भी माया की सेवा में लगा हुआ है। पहले से चल रहे संकीर्तन आन्दोलन हरे कृष्ण आन्दोलन अथवा कृष्णभावनामृत आन्दोलन की सहायता करके करे। सारे शिक्षित तथा सम्पत्तिवान् व्यक्तियों को इस आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए, क्योंकि सारी विद्या तथा धन भगवान् की सेवा के निमित्त हैं। यदि इन्हें भगवान् की सेवा में नहीं लगाया जाता तो इन बहुमूल्य निधियों को माया की सेवा में लगाना पड़ेगा। इस समय तथाकथित विज्ञानियों, दार्शनिकों तथा कवियों की विद्या माया की सेवा में लगी हुई है और

धनी लोगों का धन भी माया की सेवा में लगा हुआ है लेकिन माया की सेवा से विश्व में अराजक स्थिति उत्पन्न होती है। अतएव धनवान व्यक्ति को तथा शिक्षित व्यक्ति को अपने ज्ञान तथा ऐश्वर्य का त्याग भगवान् को सन्तुष्ट करने में कर देना चाहिए और *सङ्कीर्तन* आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*) ।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक् ।
इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अग्नि—आग; मुखतः—मुख से, ज्वाला से; अयम्—यह; वै—निश्चय ही; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; सर्व-यज्ञ-भुक्—सभी प्रकार के यज्ञों के फलों का भोक्ता; इज्येत—पूजा जाता है; हविषा—घी की आहुति से; राजन्—हे राजा; यथा—जिस प्रकार; विप्र-मुखे—ब्राह्मण के मुँह से होकर; हुतैः—उत्तम भोजन की भेंट करके।

भगवान् श्री कृष्ण सारी यज्ञ-आहुतियों के भोक्ता हैं। यद्यपि वे अग्नि में डाली गई आहुतियाँ खाते हैं फिर भी हे राजा, जब उन्हें अन्न तथा घी से बना व्यंजन योग्य ब्राह्मणों के मुख से होकर अर्पित किया जाता है, तो वे और भी प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—सभी कर्म यज्ञ के लिए किये जाने चाहिए और यज्ञ कृष्ण को तुष्ट करने के निमित्त होना चाहिए। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (५.२९) भी कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—वे परमेश्वर हैं और प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं। यद्यपि यज्ञ कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, किन्तु जब अन्न तथा घी को अग्नि में न डालकर प्रसाद के रूप में सर्वप्रथम ब्राह्मणों को और बाद में अन्यो को वितरित किया जाता है, तो वे अधिक प्रसन्न होते हैं। इस विधि से कृष्ण अन्य किसी विधि की तुलना में अधिक प्रसन्न होते हैं। वर्तमान काल में तो अग्नि तथा घी की आहुति डाल कर यज्ञ करने की बहुत कम सम्भावना रह गई है। विशेष रूप से भारत में तो घी न होने के बराबर है। प्रत्येक वस्तु जो घी से तैयार होनी चाहिए अब एक प्रकार के तेल से बनाई जाती है। किन्तु यज्ञ अग्नि में तेल डालने की संस्तुति कमी नहीं की जाती है। कलियुग में अन्न तथा घी की उपलब्ध मात्रा धीरे-धीरे घट रही है और लोग चिन्तित हैं कि वे इनकी प्रचुर मात्रा उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में शास्त्रों का आदेश है—*यज्ञैः संङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*। इस युग में बुद्धिमान लोग संकीर्तन आन्दोलन द्वारा यज्ञ सम्पन्न करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि संकीर्तन आन्दोलन में सम्मिलित हो

और अपने ज्ञान तथा धन की आहुति इस आन्दोलन की अग्नि में डाले। हम अपने सङ्कीर्तन आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन में अर्चाविग्रह पर भव्य प्रसाद चढ़ाते हैं और बाद में उस प्रसाद को ब्राह्मणों, वैष्णवों एवं सामान्य लोगों में वितरित करते हैं। कृष्ण का प्रसाद ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को दिया जाता है और ब्राह्मणों एवं वैष्णवों का प्रसाद जनता को। इस प्रकार का यज्ञ जिसमें हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन किया जाता है और प्रसाद वितरण होता है, या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की सर्वाधिक पूर्ण तथा प्रामाणिक विधि है।

तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः ।

तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; ब्राह्मण-देवेषु—ब्राह्मणों तथा देवताओं के माध्यम से; मर्त्य-आदिषु—सामान्य मनुष्यों तथा अन्य जीवों के माध्यम से; यथा-अर्हतः—अपनी सामर्थ्य के अनुसार; तैः तैः—उन सभी; कामैः—भोग की विविध वस्तुओं से, यथाभव्य भोजन, पुष्पों की माला, चन्दन आदि से.; यजस्व—पूजा करे; एनम्—इस; क्षेत्र-ज्ञम्—सभी प्राणियों के हृदय में वास करने वाले परमेश्वर को; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; अनु—बाद में।

अतएव हे राजा, सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा देवताओं को प्रसाद प्रदान करो और जब वे भलीभाँति खा चुके तो तुम अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्य जीवों को प्रसाद बाँटो। इस प्रकार तुम सारे जीवों की अर्थात् प्रत्येक जीव के भीतर के परम पुरुष की पूजा कर सकोगे।

तात्पर्य : समस्त जीवों को प्रसाद बांटने की विधि यह है कि सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को प्रसाद दिया जाता है, क्योंकि देवताओं का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण करते हैं। इस प्रकार सबों के हृदय में स्थित भगवान् की पूजा हो जाएगी। प्रसाद अर्पित करने की यह वैदिक विधि है। जब भी प्रसाद-वितरण उत्सव मनाया जाता है, तो सर्वप्रथम ब्राह्मणों को प्रसाद दिया जाता है, फिर बच्चों और वृद्धों को; तब स्त्रियों को और अन्त में कुत्तों तथा अन्य घरेलू पशुओं को दिया जाता है। जब यह कहा जाता है कि परम पुरुष नारायण हर एक के हृदय में स्थित हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति नारायण बन चुका है या कोई निर्धन व्यक्ति नारायण बन गया है। यहाँ ऐसे निष्कर्ष को अस्वीकार किया गया है।

कुर्यादपरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः ।

श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्धन्थूनां च वित्तवान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुर्यात्—करना चाहिए; अपर-पक्षीयम्—कृष्ण पक्ष में; मासि—आश्विन (अक्टूबर-नवम्बर) महीने में; प्रौष्ठ-पदे—भाद्र (अगस्त-सितम्बर) माह में; द्विजः—दो बार उत्पन्न; श्राद्धम्—आहुतियाँ; पित्रोः—पितरों के लिए; यथा-वित्तम्—अपनी आय के अनुसार; तत्-बन्धूनाम् च—तथा पूर्वजों के सम्बन्धियों को भी; वित्त-वान्—जो पर्याप्त धनी है।

काफी धनवान् ब्राह्मण को भाद्र मास के कृष्ण पक्ष में पितरों को आहुति देनी चाहिए। इसी प्रकार पूर्वजों के सम्बन्धियों को आश्विन मास में महालया पर्व* के अवसर पर आहुति देनी चाहिए।

अयने विषुवे कुर्याद्व्यतीपाते दिनक्षये ।

चन्द्रादित्योपरागे च द्वादश्यां श्रवणेषु च ॥ २० ॥

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके ।

चतसृष्वष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥ २१ ॥

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे ।

राकया चानुमत्या च मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥ २२ ॥

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्त्र उत्तराः ।

तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अयने—मकर संक्राति के दिन, जब सूर्य उत्तरायण दिशा में जाने लगता है तथा कार्तिक संक्रान्ति के दिन जब सूर्य दक्षिणायन की ओर जाने लगता है; विषुवे—मेष संक्रान्ति तथा तुला संक्रान्ति पर; कुर्यात्—करे; व्यतीपाते—व्यतीपात योग में; दिन-क्षये—उस दिन जब तीनों तिथियाँ मिलती हैं; चन्द्र-आदित्य-उपरागे—सूर्य अथवा चन्द्र ग्रहण के समय; च—तथा; द्वादश्याम् श्रवणेषु—श्रावण नक्षत्र में तथा द्वादशी के दिन; च—तथा; तृतीयायाम्—अक्षय तृतीया के दिन; शुक्ल-पक्षे—शुक्ल पक्ष में; नवम्याम्—नवमी के दिन; अथ—भी; कार्तिके—कार्तिक (अक्टूबर, नवम्बर) मास में; चतसृषु—चतुर्थी को; अपि—भी; अष्टकासु—अष्टका के दिन; हेमन्ते—शीत ऋतु के पूर्व; शिशिरे—शीत ऋतु में; तथा—भी और; माघे—माघ (जनवरी फरवरी) मास में; च—तथा; सित-सप्तम्याम्—शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन; मघा-राका-समागमे—मघा नक्षत्र तथा पूर्णिमा के संयोग के समय; राकया—पूर्ण चन्द्रमा के दिन; च—तथा; अनुमत्या—शुक्ल पक्ष में पूर्ण चन्द्रमा से थोड़ा पहले; च—तथा; मास-ऋक्षाणि—नक्षत्र जो विभिन्न नामों के स्रोत हैं; युतानि—परस्पर मिल जाते हैं; अपि—भी; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; अनुराधा—अनुराधा नक्षत्र; स्यात्—हो सकता है; श्रवणः—श्रावण नक्षत्र; तिस्रः—तीन (नक्षत्र); उत्तराः—उत्तरा नामक नक्षत्र (उत्तर-फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तर-भाद्रपद); तिसृषु—तीनों पर; एकादशी—एकादशी; वा—अथवा; आसु—इन पर; जन्म-ऋक्ष—अपने जन्म नक्षत्र का; श्रोण—श्रवण नक्षत्र के; योग—संयोग से; युक्—युक्त।

Footnote Starts Here:

*महालया पर्व आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को मनाया जाता है और वैदिक चान्द्र वर्ष के अन्तिम दिन का सूचक है।

Footnote Ends Here.

मनुष्य को चाहिए कि मकर संक्रान्ति (जब सूर्य उत्तरायण की ओर जाने लगता है) के दिन या कर्कट संक्रान्ति (जब सूर्य दक्षिणायन की ओर जाने लगता है) के दिन श्राद्धकर्म करे; वह इस श्राद्धकर्म को मेष संक्रान्ति के दिन तथा तुला संक्रान्ति के दिन, जब तीनों चन्द्र तिथियाँ एकसाथ मिलती हैं, व्यतीपात नामक योग में, चन्द्र या सूर्यग्रहण के समय द्वादशी के दिन तथा श्रवण नक्षत्र में करे। मनुष्य को चाहिए कि अक्षय तृतीया को, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को, शीतऋतु में चारों अष्टकाओं के दिन, माघ मास की शुक्ला सप्तमी के दिन, मघा नक्षत्र तथा पूर्णिमा के योग के समय तथा जब चन्द्रमा पूर्ण हो या लगभग पूर्ण हो, उन दिनों में जब ये दिन उन नक्षत्रों के साथ योग करें जिनसे महीनों के नाम प्राप्त हुए हैं श्राद्धकर्म करे। श्राद्धकर्म द्वादशी को भी किया जाये जब वह अनुराधा, श्रवण, उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा या उत्तर भाद्रपद नामक नक्षत्रों में से किसी के साथ योग करे। यही नहीं, एकादशी को भी श्राद्ध किया जाये जब यह उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा या उत्तर भाद्रपद के योग में हो। अन्त में, मनुष्य को चाहिए अपने जन्म नक्षत्र या श्रवण नक्षत्र के योग वाले दिनों में श्राद्धकर्म करे।

तात्पर्य : *अयन* शब्द का अर्थ है “पथ” या “गमन”। वे छः मास जिनमें सूर्य उत्तर की ओर जाता है *उत्तरायण* अर्थात् उत्तरी पथ कहलाते हैं और वे छह मास जब सूर्य दक्षिण की ओर जाता है *दक्षिणायन* या दक्षिणी पथ कहलाते हैं। इनका उल्लेख *भगवद्गीता* (८.२४-२५) में हुआ है। जिस दिन सूर्य उत्तर की ओर जाना प्रारम्भ करता है और मकर राशि में प्रवेश करता है, वह मकर संक्रान्ति कहलाता है। जिस दिन सूर्य दक्षिण की यात्रा प्रारम्भ करके कर्क राशि में प्रवेश करता है, वह कर्कट-संक्रान्ति कहलाता है। वर्ष के इन दोनों दिनों में श्राद्ध पर्व मनाया जाना चाहिए।

विषुव या विषुव संक्रान्ति का अर्थ है मेष संक्रान्ति—वह दिन जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है। तुला संक्रान्ति के दिन सूर्य तुला राशि में प्रवेश करता है। ये दोनों दिन वर्ष में एक बार पड़ते हैं। योग शब्द सूर्य तथा चन्द्र के विशेष सम्बन्ध का सूचक है जब वे आकाश में घूमते हैं। योग की सत्ताइस विभिन्न कोटियाँ हैं जिनमें से सत्रहवीं व्यतीपात है। जिस दिन यह पड़े उस दिन श्राद्ध कर्म करना चाहिए। तिथि या चान्द्र दिवस सूर्य तथा चन्द्रमा के देशान्तरों की दूरी है। कभी-कभी तिथि चौबीस घण्टे से कम होती है। जब कोई तिथि सूर्योदय के बाद शुरू होती है और अगले दिन के

सूर्योदय के पहले अन्त होती है, तो पिछली तिथि तथा अगली तिथि सूर्योदयों के मध्य चौबीस घण्टों के दिन का स्पर्श करती है। यह *त्र्यहस्पर्श* कहलाता है अर्थात् तीन तिथियों के थोड़े-थोड़े अंश द्वारा स्पर्श हुआ दिन।

श्रील जीव गोस्वामी ने अनेक शास्त्रों से उद्धरण दिये हैं जिनमें कहा गया है कि पितरों को एकादशी तिथि को श्राद्ध की आहुतियाँ नहीं दी जानी चाहिए। जब मृत्यु तिथि एकादशी को पड़े तो श्राद्ध कर्म एकादशी के दिन नहीं, अपितु अगले दिन द्वादशी को करना चाहिए। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

ये कुर्वन्ति महीपाल श्राद्धं चैकादशीदिने ।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दाता भोक्ता च प्रेरकः ॥

यदि कोई अपने पुरखों की श्राद्ध की आहुतियाँ एकादशी तिथि को देता है, तो श्राद्धकर्ता एवं वे पुरखे जिनके लिए श्राद्ध किया जाता है तथा पुरोहित तीनों नरकगामी होते हैं।

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः ।

कुर्यात्सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—इसलिए; एते—ये सब (ज्योतिष सम्बन्धी गणनाएँ); श्रेयसः—कल्याण के; कालाः—समय; नृणाम्—मनुष्यों का; श्रेयः—कल्याण; विवर्धनाः—बढ़ाते हैं; कुर्यात्—करे; सर्व-आत्मना—अन्य कार्यों से (केवल श्राद्ध कर्म ही नहीं); एतेषु—इन (ऋतुओं) में; श्रेयः—कल्याण (करने वाले); अमोघम्—तथा सफलता; तत्—मनुष्य की; आयुषः—आयु का।

ऋतुओं के सारे अवसर मानवता के लिए अत्यन्त शुभ माने जाते हैं। ऐसे अवसरों पर सारे कल्याण (शुभ) कार्य किये जाने चाहिए, क्योंकि ऐसे कार्यों से मनुष्य अपने छोटे से जीवनकाल में सफलता प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जब किसी को प्राकृतिक विकास के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त होता है, तो उसे अगली प्रगति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—
यान्ति देवव्रता देवान्—जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे उनके लोकों को जाते हैं। *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—और यदि कोई भगवान् की भक्ति करता है, तो वह भगवद्धाम वापस जाता है। अतएव मनुष्य जीवन में उसे कल्याणकार्य करने होते हैं जिससे वह भगवद्धाम लौट सके। किन्तु भक्ति

भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं है। अहैतुक्यप्रतिहता। जो लोग सकाम कर्म में लगे हैं उनके लिए उपर्युक्त काल तथा वस्तुएँ अत्यन्त अनुकूल हैं।

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम् ।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्दत्तं तद्भयनश्चरम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एषु—इन सारी (ऋतुओं) में; स्नानम्—गंगा, यमुना में स्नान या किसी अन्य पुण्य स्थल में स्नान; जपः—कीर्तन; होमः—अग्नि यज्ञ; व्रतम्—व्रत रखना; देव—भगवान्; द्विज-अर्चनम्—ब्राह्मणों या वैष्णवों की पूजा करना; पितृ—पितर; देव—देवता; नृ—मनुष्य; भूतेभ्यः—तथा अन्य सारे जीवों को; यत्—जो भी; दत्तम्—प्रदान किया हुआ; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; अनश्चरम्—स्थायी रूप से लाभप्रद।

ऋतु-परिवर्तन के इन अवसरों पर यदि कोई गंगा या यमुना में या किसी तीर्थस्थान में स्नान करता है, यदि कोई कीर्तन करता है, अग्नि यज्ञ करता है, व्रत रखता है या यदि कोई भगवान् की, ब्राह्मणों की, पितरों की, देवताओं की तथा सामान्य जीवों की पूजा करता है या जो कुछ दान देता है, तो उसका स्थायी लाभप्रद फल मिलता है।

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा ।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

संस्कार-कालः—वैदिक संस्कारों को सम्पन्न करने के लिए बताये गये उचित समय पर; जायायाः—पत्नी के लिए; अपत्यस्य—सन्तानों के लिए; आत्मनः—तथा अपने लिए; तथा—और; प्रेत-संस्था—दाह संस्कार; मृत-अहः—बरसी या वार्षिक श्राद्ध दिन; च—तथा; कर्मणि—सकाम कर्म का; अभ्युदये—बढ़ोत्तरी के लिए; नृप—हे राजा।

हे राजा युधिष्ठिर, अपने, अपनी पत्नी या अपनी सन्तान के संस्कार अनुष्ठानों के लिए नियत समय पर या अन्त्येष्टि संस्कार तथा बरसी के अवसर पर मनुष्य को सकाम कर्मों में आगे बढ़ने के लिए उपर्युक्त शुभ उत्सव सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : वेदों में अपनी पत्नी के साथ, सन्तान के जन्म दिनों पर, या दाह-संस्कार के अवसर पर अनेक अनुष्ठानों के सम्पन्न करने का और गुरुदीक्षा जैसे निजी संस्कार करने की संस्तुति की गई है। इन्हें काल तथा परिस्थिति एवं शास्त्रों के आदेशानुसार मनाना चाहिए। भगवद्गीता की सबल संस्तुति है—ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम्—शास्त्रों में जैसा सूचित हो उसी के अनुसार हर काम किया जाये। किन्तु कलियुग के लिए शास्त्रों का आदेश है कि सदैव संकीर्तन यज्ञ सम्पन्न किया जाये—कीर्तनीयः सदा

हरिः / शास्त्रों में संस्तुत सारे अनुष्ठानों के पहले और बाद में संकीर्तन होना चाहिए। श्रील जीवगोस्वामी की यही संस्तुति है।

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान् ।

स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥ २७ ॥

बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् ।

यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; देशान्—स्थानों का; प्रवक्ष्यामि—वर्णन करूँगा; धर्म-आदि—धार्मिक कृत्य आदि.; श्रेय—कल्याण; आवहान्—जो ला सकता है; सः—वह; वै—निस्सन्देह; पुण्य-तमः—सर्वाधिक पवित्र; देशः—स्थान; सत्-पात्रम्—वैष्णव; यत्र—जहाँ; लभ्यते—उपलब्ध होता है; बिम्बम्—अर्चाविग्रह (मन्दिर में); भगवतः—भगवान् का (जो आश्रय हैं); यत्र—जहाँ; सर्वम् एतत्—इस समग्र विराट जगत का; चर-अचरम्—सारे जड़ तथा चेतन प्राणियों सहित; यत्र—जहाँ; ह—निस्सन्देह; ब्राह्मण-कुलम्—ब्राह्मणों की संगति; तपः—तपस्या; विद्या—शिक्षा; दया—कृपा; अन्वितम्—से युक्त।

नारद मुनि ने आगे कहा : अब मैं उन स्थानों का वर्णन करूँगा जहाँ धार्मिक अनुष्ठान अच्छी तरह सम्पन्न किये जा सकते हैं। जिस किसी स्थान में वैष्णव हो वह स्थान समस्त कल्याणकारी कृत्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् समस्त चर तथा अचर प्राणियों समेत इस समग्र विराट जगत के आश्रय हैं और वह मन्दिर जहाँ भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाता है सर्वाधिक पवित्र स्थान होता है। यही नहीं, जिन स्थानों में विद्वान ब्राह्मण तपस्या, विद्या तथा दया के द्वारा वैदिक नियमों का पालन करते हैं, वे भी अत्यन्त शुभ तथा पवित्र होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सूचित किया गया है कि जिस मन्दिर में भगवान् कृष्ण की पूजा होती है और जहाँ वैष्णवजन भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं वह किसी भी धार्मिक अनुष्ठान को सम्पन्न करने का सर्वोत्तम पवित्र स्थल है। इस समय विशेष रूप से बड़े-बड़े नगरों में लोग छोटे-छोटे कक्षों में रहते हैं और अर्चाविग्रह या मन्दिर स्थापित करने में समर्थ नहीं होते। अतएव ऐसी परिस्थितियों में बढ़ते हुए इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा स्थापित किये जा रहे केन्द्र तथा मन्दिर धार्मिक उत्सवों को सम्पन्न करने के लिए सर्वाधिक पवित्र स्थान हैं। यद्यपि सामान्य लोग धार्मिक उत्सवों या अर्चाविग्रह पूजा में रुचि नहीं रखते, तथापि कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को कृष्णभावनाभावित होकर आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करता है।

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् ।

यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ कहीं; हरेः—भगवान् कृष्ण की; अर्चा—अर्चाविग्रह पूजा जाता है; सः—वह; देशः—स्थान, देश या पड़ोस; श्रेयसाम्—समस्त कल्याण का; पदम्—स्थान; यत्र—जहाँ; गङ्गा-आदयः—गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी जैसी; नद्यः—पवित्र नदियाँ; पुराणेषु—पुराणों में; च—भी; विश्रुताः—प्रसिद्ध हैं।

निस्सन्देह, वे स्थान कल्याणकारी हैं जहाँ भगवान् कृष्ण का मन्दिर हो जिसमें उनकी विधिवत् पूजा होती हो। वे स्थान भी कल्याणकारी हैं जहाँ पुराणों जैसे अनुपूरक वैदिक शास्त्रों में उल्लिखित गंगा सदृश प्रसिद्ध पवित्र नदियाँ बहती हैं। निश्चय ही वहाँ जो भी आध्यात्मिक कार्य किया जाता है, वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक नास्तिक हैं, जो मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह के पूजन का विरोध करते हैं। किन्तु इस श्लोक में यह प्रमाण सहित कहा गया है कि जिस किसी स्थान में अर्चाविग्रह पूजा जाता है, वह दिव्य है; उसका सम्बन्ध इस भौतिक जगत से नहीं रह जाता। यह भी कहा गया है कि जंगल सतोगुणी होता है, अतएव जो लोग आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करना चाहते हैं, उन्हें जंगल चले जाना चाहिए (*वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*) लेकिन मनुष्य को बन्दर की भाँति जंगल में रहने मात्र के लिए नहीं जाना चाहिए। बन्दर तथा अन्य हिंस्र पशु भी जंगल में रहते हैं, किन्तु जो मनुष्य आध्यात्मिक संस्कृति के लिए जंगल जाता है उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए (*वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*)।

मनुष्य को केवल जंगल जाने से संतुष्ट नहीं होना है; उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी होती है। इसीलिए इस युग में चूँकि आध्यात्मिक संस्कृति के लिए जंगल जाना असम्भव है, अतएव मनुष्य को यह संस्तुति की जाती है कि वह मन्दिर-समुदाय में भक्त के रूप में रहे, अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करे, विधि-विधानों का पालन करे तथा उस स्थान को वैकुण्ठ की भाँति बना दे। जंगल सतोगुणी, शहर तथा ग्राम रजोगुणी एवं वेश्यालय, होटल तथा रेस्तरां तमोगुणी हो सकते हैं, किन्तु जब कोई मन्दिर-समुदाय में रहता है, तो वह वैकुण्ठ में रहता है। अतएव यहाँ *श्रेयसां पदम्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि यह श्रेष्ठ, सर्वाधिक शुभ स्थान है।

हम सारे विश्व में कई स्थानों पर मन्दिर-समुदायों का निर्माण करा रहे हैं जिससे भक्तों को आश्रय प्राप्त हो और वे मन्दिर में अर्चाविग्रह का पूजन कर सकें। अर्चाविग्रह का पूजन भक्तों के अतिरिक्त

अन्य कोई नहीं कर सकता। ऐसे मन्दिर-पूजक (पुजारी) जो भक्तों को महत्त्व नहीं दे पाते निम्न श्रेणी के होते हैं। वे कनिष्ठ अधिकारी हैं। श्रीमद्भागवत (११.२.४७) में कहा गया है :

अर्चयामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

“जो व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह के पूजन में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लगा रहता है किन्तु भक्तों या सामान्य लोगों के प्रति व्यवहार करना नहीं जानता वह प्राकृत भक्त या कनिष्ठ अधिकारी कहलाता है।” अतएव मन्दिर में भगवान् का अर्चाविग्रह होना चाहिए और भक्तों को भगवान् की पूजा करनी चाहिए। भक्तों एवं अर्चाविग्रह का यह मेल उच्चकोटि का दिव्य स्थान उत्पन्न करता है।

इसके अतिरिक्त यदि गृहस्थ भक्त अपने घर में शालग्राम शिला पूजता है, तो उसका घर भी महान् स्थल बन जाता है। अतएव तीनों उच्च वर्णों के लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—शालग्राम शिला या राधाकृष्ण अथवा सीताराम के लघु अर्चाविग्रहों की पूजा अपने-अपने घरों में करते थे। इससे प्रत्येक वस्तु कल्याणकारी बन जाती थी। किन्तु अब उन्होंने अर्चाविग्रह पूजा बन्द कर दी है। लोग आधुनिक बन चुके हैं जिससे वे सभी तरह से पापपूर्ण कृत्यों में अपने को लगाते हैं, अतएव वे अत्यधिक दुखी हैं।

इसलिए वैदिक सभ्यता के अनुसार तीर्थस्थलों को अत्यन्त पवित्र माना जाता है और आज भी सैकड़ों-हजारों तीर्थस्थान हैं—यथा जगन्नाथपुरी, वृन्दावन, हरद्वार, रामेश्वर, प्रयाग तथा मथुरा। भारत तो पूजा करने या आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करने का स्थान है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन संसार भर के प्रत्येक व्यक्ति को जातिपाँति का भेदभाव किये बिना अपने केन्द्रों में आने और आध्यात्मिक जीवन का पूर्णतया अनुशीलन करने के लिए आमंत्रित करता है।

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत ।

कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ।

नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ॥ ३० ॥

वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ।

नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः ॥ ३१ ॥

सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः ।

एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये ॥ ३२ ॥

एतान्देशान्निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्षणशः ।

धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सरांसि—झीलें; पुष्कर-आदीनि—यथा पुष्कर; क्षेत्राणि—पवित्र स्थान (यथा कुरुक्षेत्र, गया क्षेत्र तथा जगन्नाथपुरी); अर्ह—पूज्य साधु पुरुषों के लिए; आश्रितानि—आश्रय; उत—विख्यात; कुरुक्षेत्रम्—विशेष पवित्र स्थान (धर्मक्षेत्र); गय-शिरः—गया नामक स्थान जहाँ गयासुर ने भगवान् विष्णु के चरणकमलों में शरण ग्रहण की; प्रयागः—गंगा तथा यमुना नामक दो पवित्र नदियों के संगम पर स्थित इलाहाबाद; पुलह-आश्रमः—पुलह मुनि का निवास स्थान; नैमिषम्—नैमिषारण्य (लखनऊ के पास); फाल्गुनम्—वह स्थान जहाँ फाल्गु नदी बहती है; सेतुः—सेतुबन्ध जहाँ भगवान् रामचन्द्र ने भारत तथा लंका के मध्य पुल बनाया था; प्रभासः—प्रभास क्षेत्र; अथ—तथा; कुश-स्थली—द्वारावती या द्वारका; वाराणसी—बनारस; मधु-पुरी—मथुरा; पम्पा—वह स्थान जहाँ पम्पा सरोवर है; बिन्दु-सरः—वह स्थान जहाँ विन्दु सरोवर है; तथा—वहाँ; नारायण-आश्रमः—बदरिकाश्रम; नन्दा—वह स्थान जहाँ नन्दा नदी बहती है; सीता-राम—भगवान् रामचन्द्र तथा माता सीता का; आश्रम-आदयः—शरण स्थलियाँ तथा चित्रकूट; सर्वे—सभी (स्थान); कुलाचलाः—पहाड़ी स्थल; राजन्—हे राजा; महेन्द्र—महेन्द्र; मलय-आदयः—तथा मलयाचल आदि; एते—ये सभी; पुण्य-तमाः—अत्यन्त पवित्र; देशाः—स्थान; हरेः—भगवान् के; अर्च-आश्रिताः—जहाँ राधाकृष्ण का अर्चाविग्रह पूजा जाता है (यथा अमरीका के न्यूयार्क, लास एंजिलिस तथा सैनफ्रांसिस्को जैसे बड़े-बड़े शहर और लन्दन, पेरिस जैसे यूरोपीय शहर या जहाँ भी कृष्णभावनामृत के केन्द्र हैं); च—भी; ये—जो; एतान् देशान्—इन देशों को; निषेवेत—पूजा करे या देखने जाए; श्रेयः-कामः—कल्याणकामी; हि—निस्सन्देह; अभीक्षणशः—पुनः पुनः; धर्मः—धार्मिक कार्य; हि—जिससे; अत्र—इन स्थानों में; ईहितः—सम्पन्न किया गया; पुंसां—पुरुषों का; सहस्र-अधि—एक हजार गुणा से अधिक; फल-उदयः—प्रभावशाली ।

पुष्कर जैसे पवित्र सरोवर तथा वे स्थान जहाँ साधु पुरुष रहते हैं यथा कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम, नैमिषारण्य, फाल्गु नदी का तट, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, वाराणसी, मथुरा, पम्पा, बिन्दु सरोवर, बदरिकाश्रम (नारायणाश्रम), वे स्थान जहाँ से होकर नन्दा नदी बहती है, वे स्थल जहाँ भगवान् रामचन्द्र तथा माता सीता ने शरण ली, यथा चित्रकूट तथा महेन्द्र और मलय नामक पहाड़ी क्षेत्र भी—इन सभी स्थानों को अत्यन्त पवित्र एवं पुण्य माना जाता है। इसी प्रकार भारत के बाहर के स्थान जहाँ कृष्णभावनामृत आन्दोलन के केन्द्र हैं और जहाँ राधाकृष्ण अर्चाविग्रह पूजे जाते हैं, उन स्थानों में आध्यात्मिक रूप से बढ़ने-चढ़ने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को जाना चाहिए और उनकी पूजा करनी चाहिए। जो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना चाहता है, वह इन सारे स्थानों की यात्रा कर सकता है और अनुष्ठान कर सकता है, जिससे अन्य स्थानों में सम्पन्न किये गये उन्हीं कृत्यों से हजार गुना अच्छे फल प्राप्त हो सकते हैं।

तात्पर्य : इन श्लोकों में तथा श्लोक २९ में एक ही बात बलपूर्वक कही गई है—हरेरर्चाश्रिताश्च ये या हरेरर्चा। दूसरे शब्दों में, जिस स्थान पर भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा की जाती है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर के लोगों को अपने इस्कॉन केन्द्रों के माध्यम से कृष्णभावनामृत ग्रहण करने का अवसर प्रदान कर रहा है, क्योंकि इन केन्द्रों में लोग अर्चाविग्रह की

पूजा कर सकते हैं और हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करके हजारों गुना अच्छी तरह से लाभ उठा सकते हैं। मानव समाज के लिए यह सर्वश्रेष्ठ कल्याण-कार्य है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का सन्देश था। उन्होंने चैतन्य भागवत (अन्त्य ४.१२६) में इसकी भविष्यवाणी की थी—

पृथिवीते आछे यत नगरादिग्राम

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम

श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि हरे कृष्ण आन्दोलन अर्चाविग्रहों की स्थापना करके विश्व के प्रत्येक ग्राम तथा नगर में फैल जाये जिससे प्रत्येक व्यक्ति इस आन्दोलन का लाभ उठाए और उनका आध्यात्मिक जीवन सर्व कल्याणमय हो जाये। आध्यात्मिक जीवन के बिना कुछ भी कल्याणप्रद नहीं है। मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः (भगवद्गीता ९.१२)। कृष्णभावनाभावित हुए बिना कोई भी व्यक्ति सकाम कर्मों में अथवा ज्ञान में सफल नहीं हो सकता। जैसी कि शास्त्रों में संस्तुति की गई है, हर एक को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भाग लेने तथा आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को समझने में रुचि लेनी चाहिए।

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः ।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

पात्रम्—सही व्यक्ति जिसे दान दिया जा सके; तु—लेकिन; अत्र—इस संसार में; निरुक्तम्—निश्चित; वै—निस्सन्देह;
कविभिः—विद्वानों द्वारा; पात्र-वित्तमैः—दान के सुयोग्य पात्र को खोज निकालने में दक्ष; हरिः—भगवान्; एव—निस्सन्देह;
एकः—एकमात्र; उर्वी-ईश—हे पृथ्वी के राजा; यत्-मयम्—जिस पर हर वस्तु टिकी है; वै—जिससे हर वस्तु उत्पन्न है; चर-
अचरम्—इस ब्रह्माण्ड के जड़ या चेतन प्राणी।

हे पृथ्वीपति, पटु तथा विद्वान अध्येताओं ने यह तय किया है कि भगवान् कृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं जिन्हें प्रत्येक वस्तु प्रदान की जानी चाहिए, जिन पर ब्रह्माण्ड के सारे जड़ या चेतन टिके हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं से उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : जब भी हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष विषयक कोई धार्मिक कृत्य करें तो देश, काल तथा पात्र के अनुसार करें। नारद मुनि पहले ही देश तथा काल का वर्णन कर चुके हैं। काल का वर्णन अयने विषवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये से प्रारम्भ होने वाले श्लोक २० से २४ वें श्लोक तक हुआ है। दान देने या श्राद्ध करने का वर्णन सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत से प्रारम्भ होता है, जो श्लोक

३० से ३३ तक चलता है। अब इस श्लोक में इसका वर्णन है कि किसे सब कुछ अर्पित किया जाये। हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वैचराचरम्। भगवान् सबों के मूल हैं अतएव वे सर्वोत्तम पात्र हैं जिन्हें सब कुछ दिया जाना चाहिए। भगवद्गीता (५.२९) में कहा गया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

यदि कोई वास्तविक शान्ति तथा समृद्धि को भोगना चाहता है, तो उसे कृष्ण को सब कुछ अर्पित कर देना चाहिए, क्योंकि वे असली भोक्ता, मित्र तथा स्वामी हैं। इसीलिए कहा गया है (भागवत ४.३१.१४):

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन

तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाम्।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां

तथैव सर्वार्हणम् अच्युतेज्या ॥

भगवान् अच्युत या कृष्ण की पूजा द्वारा या उन्हें प्रसन्न करके मनुष्य सबों को प्रसन्न कर सकता है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींच कर शाखाओं, पत्तियों तथा फूलों को पानी दिया जा सकता है या उदर को भोजन प्रदान करके शरीर की सारी इन्द्रियों को तृप्त किया जा सकता है। इसीलिए भक्त अपनी प्रत्येक वस्तु भगवान् को अर्पित कर देता है, जिससे उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का सर्वोत्तम फल मिले।

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु ।

राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

देव-ऋषि—देवताओं तथा महान् सन्त पुरुषों में से, जिनमें नारद मुनि आते हैं; अर्हत्सु—अत्यन्त आदरणीय तथा पूजनीय व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; सत्सु—महान् भक्तों में से; तत्र—वहाँ (राजसूय यज्ञ में); ब्रह्म-आत्म-जादिषु—तथा ब्रह्मा के पुत्र (सनक, सनन्दन, सनत तथा सनातन); राजन्—हे राजा; यत्—जिससे; अग्र-पूजायाम्—जिसकी पूजा सबसे पहले होनी हो; मतः—निर्णय; पात्रतया—राजसूय यज्ञ की अध्यक्षता के लिए चुना गया सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति; अच्युतः—कृष्ण।

हे राजा युधिष्ठिर, तुम्हारे राजसूय यज्ञ उत्सव में मेरे सहित देवता, मुनि तथा साधुओं के अतिरिक्त ब्रह्माजी के चारों पुत्र उपस्थित थे, किन्तु जब यह प्रश्न उठा कि किस व्यक्ति की सर्वप्रथम पूजा की जाये तो सबों ने परम पुरुष कृष्ण को ही चुना।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ का सन्दर्भ आया है। उस सभा में सर्वप्रथम पूजित होने वाले व्यक्ति के चुनाव को लेकर काफी उथल-पुथल हुई थी। सबों ने श्रीकृष्ण की पूजा करने का निश्चय किया। एकमात्र विरोध शिशुपाल की ओर से था और उसके घोर विरोध के कारण ही भगवान् ने उसको मार डाला।

जीवराशिभिराकीर्ण अण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् ।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जीव-राशिभिः—करोड़ों जीवों द्वारा; आकीर्णः—भरा हुआ या विस्तीर्ण; अण्ड-कोश—समग्र ब्रह्माण्ड; अङ्घ्रिपः—वृक्ष के समान; महान्—अत्यन्त विशाल; तत्-मूलत्वात्—इस वृक्ष की जड़ होने से; अच्युत-इज्या—भगवान् की पूजा; सर्व—सबों की; जीव-आत्म—जीव; तर्पणम्—तुष्टि।

जीवों से भरा हुआ समग्र ब्रह्माण्ड एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ भगवान् अच्युत (कृष्ण) हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण की पूजा करने से समस्त जीवों की पूजा हो सकती है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१०.८) में भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

“मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत् का स्रोत हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझसे उद्भूत है। इसे ठीक से समझने वाला बुद्धिमान मेरी भक्ति में लग जाता है और पूरे मनोयोग से मेरी पूजा करता है।” लोग अन्य जीवों की, विशेष रूप से गरीबों की, सेवा करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं किन्तु यद्यपि उन्होंने ऐसी सहायता पहुँचाने के अनेक तरीके बना रखे हैं, किन्तु वास्तव में वे बेचारे जीवों का वध करने में पटु हैं। वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार की सेवा या दया की संस्तुति नहीं की गई है। जैसाकि किसी पिछले श्लोक में बताया गया है कि दक्ष साधु पुरुषों ने तय किया है (निरुक्तम्) कि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के मूल हैं और कृष्ण का पूजन हर एक का पूजन है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचने का अर्थ है सारी शाखाओं-टहनियों को तुष्ट करना।

दूसरी बात यह है कि यह ब्रह्माण्ड ऊपर से नीचे तक हर लोक में जीवों से परिपूर्ण है (जीवराशिराकीर्णः। आधुनिक विज्ञानी एवं तथाकथित विद्वानों का विचार है कि इस लोक के अतिरिक्त अन्यलोकों में जीव नहीं हैं। हाल ही में उन्होंने कहा है कि वे चाँद में गये, किन्तु वहाँ उन्हें कोई जीव नहीं मिला। किन्तु श्रीमद्भागवत तथा अन्य वैदिक ग्रन्थ इस मूर्खतापूर्ण विचारधारा से सहमत नहीं हैं। जीव तो सर्वत्र हैं—एक या दो की संख्या नहीं अपितु जीवराशिभिः—लाखों में जीव हैं। यहाँ तक कि सूर्य में भी जीव हैं यद्यपि यह अग्नि के तुल्य लोक है। सूर्य का प्रधान जीव विवस्वान कहलाता है (इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्)। विभिन्न लोकों में वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीव पाये जाते हैं। यह कहना कि केवल यही लोक जीवों से पूर्ण है और अन्य लोक शून्य हैं मूर्खतापूर्ण है। इससे असली ज्ञान का अभाव ही सिद्ध होता है।

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पुराणि—रहने के स्थान या शरीर; अनेन—उनके (भगवान्) द्वारा; सृष्टानि—इन सृष्टियों में; नृ—मनुष्य; तिर्यक्—मनुष्यों के अतिरिक्त (पशु, पक्षी आदि); ऋषि—साधु पुरुष; देवताः—तथा देवगण; शेते—लेट जाता है; जीवेन—जीवों से; रूपेण—परमात्मा के रूप में; पुरेषु—इन रहने के स्थानों या शरीरों में; पुरुषः—परमेश्वर; हि—निस्सन्देह; असौ—वह (भगवान्)।

भगवान् ने अनेक पुर अर्थात् रहने के स्थान बनाये हैं, यथा मनुष्यों के शरीर, पशु, पक्षी, ऋषि तथा देवता। इन असंख्या-शरीर रूपों में भगवान् परमात्मा रूप में जीव के साथ निवास करते हैं। इस प्रकार वे पुरुषावतार कहलाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और सारे जीव मानो भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर स्थित हैं, उन सबके घूमने का वे निर्देशन करते हैं।” जीव, भगवान् का अंश होने से अपने अस्तित्व के लिए भगवत्कृपा पर आश्रित रहता है, जो शरीर के किसी भी रूप में साथ-साथ सदैव रहते हैं। जीव एक विशेष प्रकार का भोग चाहता है अतएव भगवान् उसे ऐसा शरीर प्रदान करते हैं, जो

यंत्र के समान है। इस शरीर में उसे जीवित रखने के लिए भगवान् उसके साथ पुरुष रूप में (क्षीरोदकशायी विष्णु) रहते हैं। इसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता (५.३५) में की गई है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने स्वांश से प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रविष्ट कर जाते हैं और इस तरह सारी भौतिक सृष्टि में अपनी अनन्त शक्ति को प्रकट करते हैं।” जीवात्मा भगवान् का अंश होने से जीव कहलाता है। भगवान् पुरुष के रूप में जीव के साथ रहकर उसे भौतिक सुविधाओं का भोग करने देते हैं।

तेष्वेव भगवान्नाजंस्तारतम्येन वर्तते ।

तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—विभिन्न प्रकार के शरीरों (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी के) से.); एव—निस्सन्देह; भगवान्—परमात्मा रूप में भगवान्; राजन्—हे राजा; तारतम्येन—अपेक्षतया, कम या ज्यादा; वर्तते—स्थित है; तस्मात्—इसलिये; पात्रम्—परम पुरुष; हि—निस्सन्देह; पुरुषः—परमात्मा; यावान्—जहाँ तक; आत्मा—ज्ञान की सीमा; यथा—तपस्या का विकास; ईयते—प्रकट है।

हे राजा युधिष्ठिर, प्रत्येक जीव में परमात्मा उसकी समझने की क्षमता के अनुसार बुद्धि प्रदान करता है। अतएव शरीर के भीतर परमात्मा प्रमुख होता है। परमात्मा जीव में उसके ज्ञान के सापेक्ष विकास, तपस्या आदि के अनुसार जीव के समक्ष प्रकट होता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१५.१५) में कहा गया है—मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च—भगवान् अपने अन्तर्यामी रूप में हर एक जीव को उसकी क्षमता के अनुसार बुद्धि प्रदान करते हैं। इसीलिए जीवों को हम उच्च तथा निम्न विभिन्न पदों पर पाते हैं। कोई भी जीव, पक्षी या पशु के शरीर में स्थित परमात्मा से उसी दक्षता से आदेश ग्रहण नहीं कर सकता जितना कि प्रगत मनुष्य। इस तरह शारीरिक स्वरूपों की कोटियाँ होती हैं। मानव समाज में पूर्ण ब्राह्मण को आध्यात्मिक चेतना में सर्वाधिक प्रगत माना जाता है और ब्राह्मण से भी अधिक प्रगत वैष्णव होता है। अतएव सर्वोत्तम पुरुष वैष्णव तथा विष्णु हैं। दान देते समय भगवद्गीता से (१७.२०) आदेश ग्रहण करने चाहिए—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

“जो दान कर्तव्य समझकर, उचित समय तथा स्थान पर, योग्य व्यक्ति को तथा बदले की भावना के बिना दिया जाता है उसे सतोगुणी दान कहा जाता है।” मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को दान दे क्योंकि इस तरह भगवान् की पूजा हो जाती है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य की टीका है—

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु न विशेषो हरेः क्वचित् ।

व्यक्तिमात्रविशेषेण तारतम्यं वदन्ति च ॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सारे प्राणी परमात्मा द्वारा संचालित हैं (ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति) । किन्तु आध्यात्मिक चेतना में प्रगति के कारण व्यक्ति विशेष को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अतएव ब्राह्मण वैष्णव महत्त्वपूर्ण है और परमात्मा सर्वोपरि है।

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।

त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तेषाम्—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में; मिथः—पारस्परिक; नृणाम्—मानव समाज का; अवज्ञान-आत्मताम्—परस्पर अनादरपूर्ण व्यवहार (अपमान); नृप—हे राजा; त्रेता-आदिषु—त्रेतायुग तथा अन्यो में; हरेः—भगवान् का; अर्चा—देवपूजा (मन्दिर में); क्रियायै—पूजाविधि चालू करने के लिए; कविभिः—विद्वान् पुरुषों द्वारा; कृता—किया गया।

हे राजन्, जब ऋषियों-मुनियों ने देखा कि त्रेतायुग के प्रारम्भ में ही परस्पर अनादरपूर्ण व्यवहार चालू हो गया तो मन्दिर में अर्चाविग्रह की साज-सामग्री सहित पूजा का सूत्रपात हुआ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (१२.३.५२) में कहा गया है—

कृते यद्भ्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

“सतयुग में विष्णु का ध्यान करने से, त्रेतायुग में यज्ञ करने से तथा द्वापर युग में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने से जो फल मिलता था वही कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन करने मात्र से प्राप्त हो सकता है।” सतयुग में हर व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से बढ़ा-चढ़ा होता था और महापुरुषों के मध्य कोई द्वेष नहीं होता था। किन्तु धीरे-धीरे युग की प्रगति के साथ भौतिक कल्मष के

कारण ब्राह्मणों तथा वैष्णवों तक में अनादरपूर्ण व्यवहार प्रकट होने लगा। वस्तुतः प्रगत वैष्णव का आदर विष्णु से भी अधिक होना चाहिए। जैसाकि *पद्मपुराण* में कहा गया है—*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्*—समस्त प्रकार के पूजन में से विष्णु-पूजन सर्वोपरि है। *तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्*—और विष्णु-पूजन से भी बढ़कर संस्तुति की गई वैष्णव पूजा है।

पहले सारे कृत्य विष्णु के लिए सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु सतयुग के बाद वैष्णवों में अनादरपूर्ण बर्ताव के लक्षण दिखने लगे। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव वह है, जो अन्यो को वैष्णव बनाने में सहायक बनता है। नारद मुनि ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने अनेक लोगों को वैष्णव बनाया है। ऐसा शक्तिमान वैष्णव जिसने अन्यो को वैष्णव बनाया है पूज्य है, किन्तु भौतिक कल्मष के कारण कभी-कभी ऐसे सम्मान्य वैष्णव का अन्य कनिष्ठ वैष्णव अनादर करते हैं। जब ऋषियों ने यह कल्मष देखा तो उन्होंने मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा प्रारम्भ कर दी। यह पूजा त्रेतायुग में प्रारम्भ हुई और द्वापर में विशेष रूप से प्रमुख थी (*द्वापरे परिचर्यायां*)। लेकिन कलियुग में अर्चाविग्रह पूजा की उपेक्षा की जाती है। अतएव हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन अर्चाविग्रह पूजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कोई मन्दिर या अर्चाविग्रह न स्थापित करके संकीर्तन आन्दोलन का व्यापक सूत्रपात किया और ऐसा करके एक व्यावहारिक उदाहरण स्थापित किया। अतएव कृष्णभावनामृत के साहित्य का अधिकाधिक वितरण करना चाहिए। इससे संकीर्तन आन्दोलन को बल मिलता है। जब भी अर्चाविग्रह पूजा की सम्भावना हो तो हम अनेक केन्द्रों की स्थापना कर सकते हैं, लेकिन हमें दिव्य साहित्य के वितरण पर अधिक बल देना चाहिए क्योंकि यह लोगों को कृष्णभावनामृत की ओर उन्मुख करने में अधिक प्रभावशाली होगा।

श्रीमद्भागवत (११.२.४७) में कहा गया है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

“ऐसा व्यक्ति जो मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा में निष्ठापूर्वक लगा रहता है, किन्तु भक्तों या सामान्य लोगों से व्यवहार करना नहीं जानता *प्राकृत भक्त* या कनिष्ठ *अधिकारी* कहलाता है।” प्राकृत भक्त या नवदीक्षित भक्त भौतिक पद पर ही रहता है। वह निश्चय ही अर्चाविग्रह की पूजा में लगा रहता

है किन्तु वह शुद्ध भक्त के कार्यों को पहचान नहीं पाता। वस्तुतः यह देखा गया है कि कृष्णभावनामृत के उद्देश्य का प्रचार करने वाला अधिकारी भगवद्भक्त भी कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों की आलोचना का शिकार बनता है। ऐसे नवदीक्षित भक्तों का वर्णन विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने किया है—*सर्वप्राणि सम्माननासमर्थानाम् अवज्ञा स्पर्धादिमतां तु भगवत्प्रतिमैव पात्रमित्याह*। जो अधिकारी भक्तों के कार्यों का सही सही मूल्यांकन नहीं कर पाते उनके लिए अर्चाविग्रह पूजा ही आध्यात्मिक प्रगति का एकमात्र साधन है। *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ७.११) में स्पष्ट कहा गया है—*कृष्णशक्ति विना नहे तार प्रवर्तन*—कृष्ण द्वारा अधिकृत हुए बिना कोई समग्र संसार में भगवान् के पवित्र नाम का उपदेश नहीं दे सकता। फिर भी जो भक्त ऐसा करता है, वह कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा आलोचित होता है। उनके लिए अर्चाविग्रह की प्रबल संस्तुति की जाती है।

ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय सपर्यया ।

उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह; हरिम्—जो भगवान् है; केचित्—कोई; संश्रद्धाय—श्रद्धा सहित; सपर्यया—आवश्यक साज-सामान सहित; उपासते—पूजा करता है; उपास्ता अपि—यद्यपि श्रद्धा और नियमपूर्वक पूजा करते रहने पर भी; न—नहीं; अर्थ-दा—लाभप्रद; पुरुष-द्विषाम्—भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करने वालों के लिए।

कभी-कभी नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूजा में सारी साज-सामग्री अर्पित करता है और वह वास्तव में भगवान् की पूजा अर्चाविग्रह के रूप में करता है लेकिन भगवान् विष्णु के अधिकृत भक्तों से ईर्ष्यालु होने के कारण भगवान् उसकी भक्ति से कभी प्रसन्न नहीं होते।

तात्पर्य : अर्चाविग्रह पूजा विशेष रूप से नवदीक्षित भक्तों की शुद्धि के लिए है। किन्तु वास्तव में उपदेश देना (प्रचार करना) अधिक महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (१८.६९) में कहा गया है—*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः*—यदि कोई भगवान् से मान्यता चाहता है, तो उसे भगवान् की महिमा का प्रचार करना चाहिए। अतएव जो व्यक्ति अर्चाविग्रह की पूजा करता है उसे प्रचारकों का अत्यधिक सम्मान करना चाहिए, अन्यथा केवल अर्चाविग्रह की पूजा करते रहने से वह भक्ति की निम्न अवस्था में पड़ा रहेगा।

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।

तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पुरुषेषु—पुरुषों में; अपि—निस्सन्देह; राज-इन्द्र—हे नृपश्रेष्ठ; सु-पात्रम्—श्रेष्ठ पुरुष; ब्राह्मणम्—योग्य ब्राह्मण को; विदुः—जानना चाहिए; तपसा—तपस्या से; विद्यया—विद्या से; तुष्ट्या—तथा तुष्टि से; धत्ते—धारण करता है; वेदम्—वेद नामक दिव्य ज्ञान; हरेः—भगवान् का; तनुम्—शरीर या अभिव्यक्ति।

हे राजन्, सभी पुरुषों में सुयोग्य ब्राह्मण को इस संसार में सर्वोत्तम मानना चाहिए क्योंकि वह तपस्या, वैदिक अध्ययन तथा संतुष्टि द्वारा भगवान् का प्रतिरूप बन जाता है।

तात्पर्य : हमें वेदों से पता चलता है कि भगवान् परम पुरुष हैं; प्रत्येक जीव व्यष्टि पुरुष है और भगवान् कृष्ण परम पुरुष हैं। वैदिक ज्ञान में पटु तथा दिव्य विषयों में पारंगत ब्राह्मण भगवान् का प्रतिनिधि होता है। अतएव मनुष्य को ऐसे ब्राह्मण या वैष्णव की पूजा करनी चाहिए। वैष्णव ब्राह्मण से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि ब्राह्मण इतना ही जानता है कि वह ब्रह्म है, पदार्थ नहीं, किन्तु वैष्णव यह जानता है कि वह न केवल ब्रह्म है, अपितु परब्रह्म का नित्य दास भी है। अतएव वैष्णव की पूजा मन्दिर में की जाने वाली अर्चाविग्रह की पूजा से श्रेष्ठ होती है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रैः*—सारे शास्त्रों में गुरु को भगवान् के समान माना जाता है, जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ या श्रेष्ठ वैष्णव होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वैष्णव अपने को ईश्वर मानता है, क्योंकि यह अपराध है। यद्यपि ब्राह्मण या वैष्णव को भगवान् के ही समान प्राणी माना जाता है, किन्तु ऐसा भक्त भगवान् का सदा आज्ञाकारी दास बना रहता है और कभी भी उस प्रतिष्ठा का भोग नहीं करना चाहता जो उसे भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण प्राप्त हो सकती है।

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः ।

पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ननु—लेकिन; अस्य—उसका; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण; राजन्—हे राजा; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण द्वारा; जगत्-आत्मनः—जो सारी सृष्टि के जीवन तथा आत्मा हैं; पुनन्तः—पवित्र करते हुए; पाद-रजसा—चरणकमलों की धूल से; त्रि-लोकीम्—तीनों लोक को; दैवतम्—पूज्य; महत्—अत्यन्त महान्।

हे राजा युधिष्ठिर, ऐसे ब्राह्मण जो विशेषतः पूरे विश्व में भगवान् की महिमा के प्रचार में लगे रहते हैं, सारी सृष्टि के आत्मा भगवान् द्वारा मान्य और पूजित होते हैं। ब्राह्मण अपने प्रचार द्वारा तीनों लोकों को अपने चरणकमलों की धूल से पवित्र बनाते हैं और इस तरह वे कृष्ण के भी पूज्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६९) में भगवान् कृष्ण द्वारा स्वीकार किया गया है— *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।* ब्राह्मण सारे जगत में कृष्णचेतना सम्प्रदाय का उपदेश देते हैं और यद्यपि वे भगवान् कृष्ण की पूजा करते हैं तथा भगवान् भी उन्हें पूज्य मानते हैं। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण कृष्ण की पूजा करना चाहते हैं, उसी तरह कृष्ण ब्राह्मणों की पूजा करना चाहते हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् की महिमा के प्रचार में लगे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की पूजा धर्मज्ञों, दार्शनिकों तथा सामान्य लोगों को करनी चाहिए। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में लाखों ब्राह्मण उपस्थित थे फिर भी उन्होंने अग्रपूजा के लिए कृष्ण को चुना। अतएव कृष्ण सदैव परम पुरुष हैं, किन्तु अपनी अहैतुकी कृपा से वे ब्राह्मणों को अपना सर्वप्रिय मानते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत “आदर्श पारिवारिक जीवन” नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।